॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [८]

शान्त सुधारस

[गाथा और अर्थ]

–: कर्ता :–
महोपाध्यायश्री विनय विजयजी म.
अनुवादक : पू. आ. रत्नसेनसूरिजी

–: संकलन :–
श्रुतोपासक

–: प्रकाशक :–
श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार
शा. वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन
हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अहमदाबाद-३८०००५
फोन : २२१३२५४३, ९४२६५८५९०४
E-mail : ahoshrut.bs@gmail.com

प्रकाशक : श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार
प्रकाशन : संवत २०७४,

आवृत्ति : प्रथम

ज्ञाननिधि में से
पू. संयमी भगवंतो और ज्ञानभंडार को भेट...
गृहस्थ किसी भी संघ के ज्ञान खाते में
२० रुपये अर्पण करके मालिकी कर सकते हैं ।

प्राप्तिस्थान :

(१) सरेमल जवेरचंद काईनफेब (प्रा.) ली.
672/11, बोम्बे मार्केट, रेलवेपुरा, अहमदाबाद-380002
फोन : 22132543 (मो.) 9426585904

(२) कुलीन के. शाह
आदिनाथ मेडीसीन, Tu-02, शंखेश्वर कोम्पलेक्ष, कैलाशनगर, सुरत
(मो.) 9574696000

(३) शा. रमेशकुमार एच. जैन
A-901, गुंदेचा गार्डन, लालबाग, मुंबई-12.
(मो.) 9820016941

(४) श्री विनीत जैन
जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञानभंडार,
चंदनबाला भवन, 129, शाहुकर पेठ के पास, मीन्ट स्ट्रीट, चेन्नाई-1.
(मो.) 9381096009, 044-23463107

(५) शा. हसमुखलाल शान्तीलाल राठोड
7/8, वीरभारत सोसायटी, टीम्बर मार्केट, भवानीपेठ, पूना.
(मो.) 9422315985

मुद्रक : **किरीट ग्राफिक्स**, अहमदाबाद (मो.) ९८९८४९००९१

मंगलाचरण

नीरन्ध्रे भवकानने परिगलत् पंचाश्रवांभोधरे,
नानाकर्मलतावितानगहने, मोहान्धकारोद्धुरे ।
भ्रान्तानामिह देहिनां हितकृते कारुण्यपुण्यात्मभि-
स्तीर्थेशैः प्रथिताः सुधारसकिरो रम्या गिरः पान्तु वः ॥१॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अर्थ :- यह संसार रुपी जंगल अत्यन्त ही सघन है, जो चारों ओर से बरसते हुए पाँच प्रकार के आस्रव रूप बादलों से घिरा है, जो अनेक प्रकार की कर्म-लताओं से अत्यन्त गहन है और मोहरुपी अन्धकार से व्याप्त है, इस जंगल में भूले पड़े प्राणियों के हित के लिए करुणासागर तीर्थंकर भगवन्तों ने अमृत रस से भरपूर और अत्यन्त आनन्ददायी वाणी का जो विस्तार किया है, वह वाणी आपका संरक्षण करे ॥१॥

॥ पीठिका ॥

स्फुरति चेतसि भावनया विना,
न विदुषामपि शान्तसुधारसः ।
न च सुखं कृशमप्यमुना विना,
जगति मोहविषादविषाकुले ॥ २ ॥ **द्रुतविलम्बित**

अर्थ :- भावना के बिना विद्वानों के हृदय में भी **शान्त-सुधारस** (अमृत का रस) उत्पन्न नहीं होता है, जबकि मोह और विषादरुपी विष से भरे हुए इस संसार में उसके बिना क्षणमात्र भी सुख नहीं है ॥२॥

यदि भवभ्रमखेदपराङ्मुखं, यदि च चित्तमनन्तसुखोन्मुखम् ।
शृणुत तत्सुधियः शुभ-भावना-मृतरसं मम शान्तसुधारसम्
॥ ३ ॥ द्रुतविलम्बित

अर्थ :- हे बुद्धिमानो ! संसार-परिभ्रमण से यदि आपका मन पराङ्मुख बना हो और अनन्त सुख को पाने के लिए आपका मन उन्मुख बना हो, तो शुभ-भावना रुपी अमृत रस से भरपूर मेरे इस '**शान्त सुधारस**' का श्रवण करो ॥३॥

सुमनसो मनसि श्रुतपावना, निदधतां द्व्यधिका दशभावनाः ।
यदिह रोहति मोहतिरोहिताद्- भुतगतिर्विदिता समतालता॥४ ॥

अर्थ :- हे सुन्दर मन वाले ! कानों को पवित्र करने वाली बारह भावनाओं को अपने मन में धारण करो, जिसके परिणामस्वरुप मोह से तिरोहित बनी, जिसकी अद्भुत शक्ति है, वह सुप्रसिद्ध समतारुपी लता अंकुरित होगी ॥४॥

आर्त्तरौद्रपरिणामपावक-प्लुष्टभावुकविवेकसौष्ठवे ।
मानसे विषयलोलुपात्मनां, क्व प्ररोहतितमां शमाङ्कुरः ॥ ५ ॥
रथोद्धता

अर्थ :- आर्त्त और रौद्रध्यान (परिणाम) रुपी अग्नि से भावना रुपी विवेक चातुर्य जिसका जलकर नष्ट हो चुका है और जो विषयों में लुब्ध है, ऐसी आत्मा के मन में समता रुपी अंकुर कैसे प्रकट हो सकते हैं ? ॥५॥

यस्याशयं श्रुतकृतातिशयं विवेक-
पीयूषवर्षरमणीयरमं श्रयन्ते ।
सद्‌भावनासुरलता न हि तस्य दूरे,
लोकोत्तरप्रशममसौख्यफलप्रसूतिः ॥ ६ ॥ वसंततिलका

अर्थ :- श्रुतज्ञान से निपुण बना हुआ जिसका आशय, विवेक रुपी अमृतवर्षा से सुन्दरता का आश्रय बना हुआ है, उसके लिए लोकोत्तर प्रशमसुख को जन्म देनेवाली सद्भावना रुपी कल्पलताएँ दूर नहीं हैं ॥६॥

अनित्यत्वाशरणते, भवमेकत्वमन्यताम् ।
अशौचमास्त्रवं चात्मन्!, संवरं परिभावय ॥ ७ ॥ अनुष्टुप्
कर्मणो निर्जरां धर्म- सूक्ततां लोकपद्धतिम् ।
बोधिदुर्लभतामेतां, भावयन्मुच्यसे भवात् ॥ ८ ॥

अर्थ :- अनित्यता, अशरणता, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोकस्वरुप और बोधि-दुर्लभता रुप इन भावनाओं का भावन करने से हे आत्मन् ! तू इस संसार से मुक्त हो जाएगी ॥७-८॥

१. अनित्य भावना

वपुरिवपुरिदं विदभ्रलीला-
परिचितमप्यतिभङ्गुरं नराणाम् ।
तदतिभिदुरयौवनाविनीतम्,
भवति कथं विदुषां महोदयाय ॥ ९ ॥ पुष्पिताग्रा

अर्थ :- चंचल बादल के विलास की तरह यह मनुष्य देह क्षणभंगुर है । यह शरीर यौवन के कारण वज्रवत् अकड़ चुका है । ऐसा शरीर विद्वज्जन के महान उदय के लिए कैसे हो सकता है ? ॥९॥

आयुर्वायुतरत्तरङ्गतरलं लग्नापदः संपदः,
सर्वेपीन्द्रियगोचराश्च चटुलाः संध्याभ्ररागादिवत् ।
मित्रस्त्रीस्वजनादिसङ्गमसुखं स्वप्नेन्द्रजालोपमं,
तत्किं वस्तु भवे भवे-दिह मुदामालम्बनं यत्सताम् ॥१०॥
शार्दूलविक्रीडितम्

अर्थ :- पवन से चंचल बनी हुई तरंगों के समान आयुष्य अत्यन्त चंचल है। सभी सम्पत्तियाँ, आपत्तियों से जुड़ी हुई हैं। समस्त इन्द्रियों के विषय संध्या के आकाशीय रंग की तरह चंचल हैं। मित्र, स्त्री तथा स्वजन आदि का संगम स्वप्न अथवा इन्द्रजाल के समान है। अतः इस संसार में सज्जन के लिए कौनसी वस्तु आलम्बन रुप बन सकती है ? ॥१०॥

प्रातर्भ्रातरिहावदातरुचयो, ये चेतनाचेतना,
दृष्टा विश्वमनः-प्रमोदविदुरा भावाः स्वतः सुन्दराः ।
तांस्तत्रैव दिने विपाकविरसान् हा नश्यतः पश्यतः,
चेतः प्रेतहतं जहाति न भवप्रेमानुबन्धं मम ॥ ११ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अर्थ :- हे भाई ! प्रातःकाल में (इस संसार में) चेतन अथवा अचेतन पदार्थ के जो स्वतः सुन्दर भाव, अत्यन्त रुचि को उत्पन्न करने वाले और लोगों के मन को प्रमोद देने वाले हैं, वे ही भाव परिपाक दशा को प्राप्तकर उसी दिन विरस होकर नष्ट हो जाते हैं, फिर भी आश्चर्य है कि प्रेत से नष्ट हुआ मेरा मन संसार-प्रेम के अनुबन्ध को नहीं छोड़ता है ॥११॥

॥ अनित्य भावनाष्टकम् ॥

मूढ मुह्यसि मुधा, मूढ मुह्यसि मुधा,
विभवमनुचिंत्य हृदि सपरिवारम् ।

कुशशिरसि नीरमिव गलदनिलकम्पितम्,
विनय जानीहि जीवितमसारम् ॥ मूढ..... ॥ १२ ॥

अर्थ :- हे मूढ़ आत्मन् ! अपने परिवार और वैभव का हृदय में बार-बार विचार कर । तू व्यर्थ ही क्यों मोहित हो रहा है ? हे विनय ! तृण के अग्र भाग पर पवन से कम्पायमान जल-बिंदु के समान इस असार जीवन को तू जान ले ॥१२॥

पश्य भङ्गुरमिदं विषयसुखसौहृदम्,
पश्यतामेव नश्यति सहासम् ।
एतदनुहरति संसाररूपं रया-
ज्वलज्जलदबालिका रुचिविलासम् ॥ मूढ..... ॥ १३ ॥

अर्थ :- जरा देख ! विषयजन्य सुख के साथ तेरी मित्रता है, वह तो नाशवन्त है और वह तो देखते-देखते ही मजाक में ही नष्ट हो जाती है और इस संसार का स्वरूप तो बिजली की चमक का अनुसरण करने वाला है ॥१३॥

हन्त हतयौवनं पुच्छमिव शौवनम्,
कुटिलमति तदपि लघुदृष्टनष्टम् ।
तेन बत परवशाः परवशाहतधियः,
कटुकमिह किं न कलयन्ति कष्टम् ॥ मूढ..... ॥ १४ ॥

अर्थ :- अरे ! यह यौवन तो कुत्ते की पूँछ के समान अत्यन्त टेढ़ा होते हुए भी शीघ्र नष्ट हो जाने वाला है और जो

रस यौवन का गुलाम बन गया, वह तो गुलाम की भाँति मन्दबुद्धि वाला हो जाता है और ऐसा व्यक्ति किन-किन कटु फलों को प्राप्त नहीं करता है ? ॥१४॥

यदपि पिण्याकतामङ्गमिदमुपगतम्,
भुवनदुर्जयजरापीतसारम् ।
तदपि गतलज्जमुज्झति मनोनाङ्गिनाम्,
वितथमति कुथितमन्मथविकारम् ॥ मूढ..... ॥ १५ ॥

अर्थ :- त्रिभुवन में जिसे कोई न जीत सके, ऐसी जरा-वस्था मनुष्य के शरीर के सार को पी जाती है और उसके शरीर को निःसार (सत्त्वहीन) बना देती है, फिर भी आश्चर्य है कि लज्जाहीन प्राणी काम के विकारों का त्याग नहीं करता है ॥१५॥

सुखमनुत्तरसुरावधि यदतिमेदुरम्,
कालतस्तदपि कलयति विरामम् ।
कतरदितरत्तदा वस्तु सांसारिकम्,
स्थिरतरं भवति चिन्तय निकामम् ॥ मूढ..... ॥ १६ ॥

अर्थ :- अनुत्तर विमान तक के देवताओं को जो अत्यन्त सुख है, वह सुख भी कालक्रम से समाप्त हो जाने वाला है। अतः तू अच्छी तरह से विचार कर ले कि इस संसार की वस्तुएँ कितने दिनों तक स्थिर रहने वाली हैं ? ॥१६॥

यैः समं क्रीडिता ये च भृशमीडिता,
यैः सहाकृष्महि प्रीतिवादम् ।

तान् जनान् वीक्ष्य बत भस्मभूयङ्गतान्,
निर्विशङ्काः स्म इति धिक् प्रमादम् ॥ मूढ..... ॥ १७ ॥

अर्थ :- जिनके साथ हमने क्रीड़ा की, जिनके साथ सेवा-पूजा की और जिनके साथ प्रेम भरी बातें कीं, उन लोगों को भस्मसात् होते देखते हुए भी हम निश्चिन्त होकर खड़े हैं, अहो ! हमारे इस प्रमाद को धिक्कार हो ॥१७॥

असकृदुन्मिष्य निमिषन्ति सिन्धूर्मिव-
च्चेतनाचेतनाः सर्वभावाः ।
इन्द्रजालोपमाः स्वजनधनसङ्गमा-
स्तेषु रज्यन्ति मूढस्वभावाः ॥ मूढ..... ॥ १८ ॥

अर्थ :- समुद्र में उठती लहर के समान चेतन और अचेतन पदार्थों के समस्त भाव एक बार उठते हैं और पुनः शान्त हो जाते हैं। स्वजन और धन का संगम तो इन्द्रजाल के समान है, उनमें तो मूढ़ स्वभाव वाले ही राग कर सकते हैं ॥१८॥

कवलयन्नविरतं जङ्गमाजङ्गमम्,
जगदहो नैव तृप्यति कृतान्तः ।
मुखगतान् खादतस्तस्य करतलगतै-
र्न कथमुपलप्स्यतेऽस्माभिरन्तः ॥ मूढ..... ॥ १९ ॥

अर्थ :- त्रस और स्थावर जीवों से भरपूर इस जगत् को निरन्तर ग्रास करते हुए भी आश्चर्य है कि यह यमराज कभी तृप्त

नहीं होता । मुख में रहे हुए कवल को खा रहा है तो उसकी हथेली पर रहे हुए हमारा अन्त कैसे नहीं आएगा ? ॥१९॥

नित्यमेकं चिदानन्दमयमात्मनो,
रूपमभिरूप्य सुखमनुभवेयम् ।
प्रशमरसनवसुधापानविनयोत्सवो,
भवतु सततं सतामिह भवेऽयम् ॥ मूढ..... ॥ २० ॥

अर्थ :- आत्मा के चिदानन्दमय स्वरुप को जानकर नित्य उस सुख का अनुभव करो । इस भव में प्रशमरस रुपी नवीन अमृत के पानरुप उत्सव सज्जन पुरुषों के लिए हंमेशा हाँवे ॥२०॥

२. अशरण भावना

ये षट्खंडमहीमहीनतरसा, निर्जित्य बभ्राजिरे,
ये च स्वर्गभुजो भुजोर्जितमदा मेदुर्मुदा मेदुराः ।
तेऽपि क्रूरकृतान्तवक्त्ररदनैर्निर्दल्यमाना हठा-
दत्राणाः शरणाय हा दशदिशः प्रैक्षन्त दीनाननाः ॥ २१ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अर्थ :- अपने असाधारण बल से छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर जो सुशोभित थे, जो स्वर्ग को भोगने वाले थे, जो अपनी भुजाओं के बल से मदोन्मत्त बने हुए थे और आनन्द की लहरियों में मस्त बने हुए थे, वे जब अत्यन्त क्रूर यमराज द्वारा अपने दाँतों से नष्ट कर दिए गए, तब भी वे अशरणभूत, दीन मुख वाले शरण् के लिए दशों दिशाओं में देखते हैं ॥२१॥

तावदेव मदविभ्रममाली, तावदेव गुणगौरवशाली ।
यावदक्षमकृतान्तकटाक्षै-र्नेक्षितो विशरणो नरकीटः ॥२२॥

स्वागतावृत्तम्

अर्थ :- जब तक शरण रहित मनुष्य रुपी कीटक, भयंकर यमराज की दृष्टि में नहीं आता है, तभी तक वह जाति

आदि मद के भ्रम में घूमता रहता है और गुण के गौरव में खुश रहता है ॥२२॥

प्रतापैर्व्यापन्नं गलितमथ तेजोभिरुदितै–
र्गतं धैर्योद्योगैः श्लथितमथ पुष्टेन वपुषा ।
प्रवृत्तं तद्द्रव्यग्रहणविषये बान्धवजनै–
र्जने कीनाशेन प्रसभमुपनीते निजवशम् ॥ २३ ॥ **शिखरिणी**

अर्थ :– यमराज जब किसी प्राणी को अपने फन्दे में फँसा देता है, तब उसका सारा अभिमान नष्ट हो जाता है, उसका तेज गलने लगता है, धैर्य और पुरुषार्थ समाप्त हो जाते हैं, उसका पुष्ट शरीर भी शीर्ण हो जाता है और बन्धुजन भी उसके धन को अपने कब्जे में करने लग जाते हैं ॥२३॥

॥ द्वितीय भावनाष्टकम् ॥

स्वजनजनो बहुधा हितकामं, प्रीतिरसैरभिरामम् ।
मरणदशावशमुपगतवन्तम्, रक्षति कोऽपि न सन्तम् ।
विनय विधीयतां रे, श्रीजिनधर्मशरणम् ।
अनुसंधीयतां रे, शुचितरचरण–स्मरणम् ॥ विनय०॥ २४ ॥
ध्रुवपदम्

अर्थ :– स्वजन वर्ग अनेक प्रकार से हित की इच्छा करने वाला हो और प्रेम के रस में डुबो देने वाला हो, फिर भी जब व्यक्ति मरणदशा के अधीन होता है, तब कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर पाता है । अतः हे विनय ! तू जिनधर्म की शरण

स्वीकार कर और अत्यन्त पवित्र चारित्र के साथ अपना अनुसन्धान कर ॥२४॥

तुरगरथेभनरावृतिकलितं, दधतं बलमस्खलितम् ।
हरति यमो नरपतिमपि दीनं, मैनिक इव लघुमीनम् ॥ २५ ॥

अर्थ :- जिस प्रकार एक छोटे मत्स्य को बड़ा मत्स्य निगल जाता है, उसी प्रकार घोड़े, रथ, हाथी तथा पैदल सैन्य से अस्खलित बल को धारण करने वाले और अत्यन्त दीन बने राजा को भी यमराज उठा ले जाता है ॥२५॥

प्रविशति वज्रमये यदि सदने, तृणमथ घटयति वदने ।
तदपि न मुञ्चति हत समवर्ती, निर्दय-पौरुषनर्ती ॥ २६ ॥

अर्थ :- कोई वज्र से निर्मित घर में प्रवेश कर जाय, अथवा मुख में तृण धारण कर ले तो भी निर्दय बनकर अपने पौरुष का नाच करने वाला, तिरस्कार योग्य तथा सबको समान गिनने वाला यमराज किसी को नहीं छोड़ता है ॥२६॥

विद्यामन्त्रमहौषधिसेवां, सृजतु वशीकृतदेवाम् ।
रसतु रसायनमुपचयकरणं, तदपि न मुञ्चति मरणम् ॥२७ ॥

अर्थ :- कोई विद्या, मंत्र और महा औषधियों का सेवन करे, देवताओं को भी अपने वश में कर ले तथा देह को पुष्ट करने वाले रसायनों का सेवन करे तो भी मृत्यु उसे नहीं छोड़ती है ॥२७॥

वपुषि चिरं निरुणद्धि समीरं, पतति जलधिपरतीरम् ।
शिरसि गिरेरधिरोहति तरसा, तदपि स जीर्यति जरसा ॥२८॥

अर्थ :- शरीर में लम्बे समय तक पवन को रोक दे, महासमुद्र के अन्य तट पर जाकर पड़ाव डाल दे, अथवा शीघ्र ही ऊँचे पर्वत के ऊपर भी चढ़ जाय तो भी मनुष्य जरा से अवश्य जीर्ण होता है ॥२८॥

सृजतीमसितशिरोरुहललितं, मनुजशिरः सितपलितम् ।
को विदधानां भूघनमरसं, प्रभवति रोद्धुं जरसम् ॥ २९ ॥

अर्थ :- मनुष्य के मस्तक पर अत्यन्त सुन्दर दिखने वाले काले बालों को जरावस्था सफेद बना देती है और शरीर को रसहीन (नीरस) बना देती है, ऐसी जरावस्था को रोकने में कौन समर्थ है ? ॥२९॥

उद्यत उग्ररुजा जनकायः, कः स्यात्तत्र सहायः ।
एकोऽनुभवति विधुरुपरागं, विभजति कोऽपि न भागम् ॥३०॥

अर्थ :- मानव देह जब तीव्र व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है, तब उसका सहायक कौन होता है? ग्रहण की पीड़ा चन्द्रमा अकेले भोगता है, उस समय उसके साथ कोई हिस्सा नहीं बँटाता है ॥३०॥

शरणमेकमनुसर चतुरङ्गं, परिहर ममतासङ्गम् ।
विनय! रचय शिवसौख्यनिधानं, शान्तसुधारसपानम् ॥३१॥

अर्थ :- हे विनय ! चार अंग स्वरुप (अरिहंतादिका) शरण स्वीकार कर । ममता के संग का त्याग कर और शिवसुख के निधानभूत शांतसुधारस का पान कर ॥३१॥

३. संसार भावना

इतो लोभः क्षोभं जनयति दुरन्तो दव इवो–
ल्लसंल्लाभाम्भोभिः कथमपि न शक्यः शमयितुम् ।
इतस्तृष्णाऽक्षाणां तुदति मृगतृष्णेव विफला,
कथं स्वस्थैः स्थेयं विविधभयभीमे भववने ॥ ३२॥ शिखरिणी

अर्थ :– एक ओर लोभ का भयंकर दावानल सुलग रहा है, जिसे बढ़ते हुए जलरुपी लाभ से किसी भी तरह से शान्त नहीं किया जा सकता है तथा दूसरी ओर इन्द्रियों की तृष्णा मृगतृष्णा की भाँति परेशान कर रही है । इस प्रकार विविध प्रकार के भयों से भयंकर इस संसार रुपी वन में स्वस्थ कैसे रहा जा सकता है ? ॥३२॥

गलत्येका चिन्ता भवति पुनरन्या तदधिका,
मनोवाक्कायेहाविकृतिरतिरोषात्तरजसः ।
विपद्गर्तावर्त्ते झटिति पतयालोः प्रतिपदं,
न जन्तोः संसारे भवति कथमप्यर्त्तिविरतिः ॥ ३३ ॥ शिखरिणी

अर्थ :– मन, वचन और काया की इच्छाओं के विकार से जीवात्मा राग–द्वेष कर कर्म रुपी रज को ग्रहण करती है,

उसकी एक चिन्ता दूर होती है, तो उससे बढ़कर दूसरी नई चिन्ता खड़ी हो जाती है। प्रतिपल विपत्ति के गर्त के आवर्त में पड़ने के स्वभाव वाले इस प्राणी के लिए इस संसार में आपत्ति का अन्त कैसे हो सकता है ? ॥३३॥

सहित्वा सन्तापानशुचिजननीकुक्षिकुहरे,
ततो जन्म प्राप्य प्रचुरतरकष्टक्रमहतः ।
सुखाभासैर्यावत् स्पृशति कथमप्यर्तिविरतिं,
जरा तावत्कायं कवलयति मृत्योः सहचरी ॥३४॥ शिखरिणी

अर्थ :- जीव गन्दगी से भरपूर माँ की कुक्षि रुपी गुफा में सन्तापों को सहन कर जन्म प्राप्त करता है और उसके बाद अनेक प्रकार के महान् कष्टों की परम्परा को प्राप्त करता है, किसी प्रकार से सुखाभासों से जब दुःख से विराम पाता है, तब मृत्यु की सहचरी जरावस्था उसके देह को खाने लग जाती है ॥३४॥

विभ्रान्तचित्तो बत बम्भ्रमीति, पक्षीव रुद्धस्तनुपञ्जरेऽङ्गी ।
नुन्नो नियत्याऽतनुकर्मतन्तु-सन्दानितः सन्निहितान्तकौतुः॥३५ ॥
उपजाति

अर्थ :- मोह से मूढ़ चित्त वाला यह प्राणी इधर-उधर भटकता रहता है। नियति से प्रेरित और कर्म के तन्तुओं से बँधा हुआ यह प्राणी शरीर रुपी पिंजरे में पक्षी की भाँति पड़ा हुआ है, जिसके निकट में ही कृतान्त (यम) रूपी बिलाड खड़ा है ॥३५॥

अनन्तान्पुद्गलावर्त्ताननन्तानन्तरूपभृत् ।
अनन्तशो भ्रमत्येव जीवोऽनादिभवार्णवे ॥ ३६ ॥ अनुष्टुप्

अर्थ :- यह जीवात्मा इस अनादि भवसागर में अनन्त-अनन्त रुपों को धारणकर अनन्त-अनन्त पुद्गलपरावर्त तक भटकता रहता है ॥३६॥

॥ तृतीय भावनाष्टकम् ॥

कलय संसारमतिदारुणं, जन्म-मरणादिभयभीत रे ।
मोहरिपुणेह सगलग्रहं, प्रतिपदं विपदमुपनीत रे॥ कलय०॥३७॥

अर्थ :- जन्म-मरण आदि के भय से भयभीत बने हे प्राणी । तू इन संसार की अतिभयंकरता को समझ ले, मोह रुपी शत्रु ने तुझे गले से कसकर पकड़ लिया है और वह हर कदम पर तुझे आपत्ति में डाल रहा है ॥३७॥

स्वजनतनयादिपरिचयगुणै-रिह मुधा बध्यसे मूढ रे ।
प्रतिपदं नवनवैरनुभवैः, परिभवैरसकृदुपगूढ रे ॥ कलय०॥३८॥

अर्थ :- हे मूढ़ ! स्वजन तथा पुत्र आदि की परिचय रुपी डोरी से तू व्यर्थ ही अपने आपको बाँध रहा है । तू कदम-कदम पर नये-नये अनुभवों के द्वारा अनेक प्रकार के पराभवों से घिरा हुआ है ॥३८॥

घटयसि क्वचन मदमुन्नतेः, क्वचिदहो हीनतादीन रे ।
प्रतिभवं रूपमपरापरं, वहसि बत कर्मणाधीन रे।।कलय०॥३९॥

अर्थ :- तू कभी उन्नति के अभिमान की कल्पना करता है तो कभी हीनता के विचारों से दीन बन जाता है। कर्म की पराधीनता से हर भव में नये-नये रुपों को धारण करता है ॥३९॥

जातु शैशवदशापरवशो, जातु तारुण्यमदमत्त रे ।
जातु दुर्जयजराजर्जरो, जातु पितृपतिकरायत्त रे ॥कलय०॥४०॥

अर्थ :- जब तू शिशु अवस्था में था, तब अत्यन्त परवश था, जब तरुण अवस्था में आया, तब मद से उन्मत्त बन गया और जब वृद्धावस्था में आया तब जरा से अत्यन्त जर्जरित बन गया और अन्त में यमदेव को पराधीन बन गया ॥४०॥

व्रजति तनयोऽपि ननु जनकतां, तनयतां व्रजति पुनरेष रे ।
भावयन्विकृतिमिति भवगते-स्त्यज तमो नृभवशुभशेष रे ॥
कलय० ॥ ४१ ॥

अर्थ :- इस संसार में पुत्र मरकर पिता बन जाता है और वह पिता मरकर पुनः पुत्र बन जाता है। इस प्रकार इस संसारगति की विकृति (विचित्रता) का विचार करो और इसका त्याग कर दो, अभी भी तुम्हारे इस मनुष्य-जीवन का शुभ भाग बाकी है ॥४१॥

यत्र दुःखार्त्तिगददवलवै-रनुदिनं दह्यसे जीव रे ।
हन्त तत्रैव रज्यसि चिरं, मोहमदिरामदक्षीव रे ॥ कलय०॥४२॥

अर्थ :- मोह की मदिरा के पान से नष्टबुद्धि वाले हे जीवात्मा ! खेद है कि जहाँ दुःख की पीड़ा के दावानल से तू

निरन्तर जला रहा है, उसी स्थान में तू दीर्घकाल से राग करता है ॥४२॥

दर्शयन् किमपि सुखवैभवं, संहरंस्तदथ सहसैव रे ।
विप्रलम्भयति शिशुमिव जनं, कालबटुकोऽयमत्रैव रे ॥
कलय० ॥ ४३ ॥

अर्थ :- यह काल रुपी बटुक जीवात्मा को थोड़ा सा सुख-वैभव दिखाकर, पुनः उसे खींच लेता है, इस प्रकार यह काल जीवात्मा को बालक की भाँति ललचाता रहता है ॥४३॥

सकल-संसारभयभेदकं, जिनवचो मनसि निबधान रे ।
विनय परिणमय निःश्रेयसं, विहित-शमरस-सुधापान रे ॥
कलय० ॥ ४४ ॥

अर्थ :- हे विनय ! संसार के समस्त भयों को भेद देने वाले जिनवचन को हृदय में धारण करो । शान्त रस का अमृतपान कर अपने आपको निःश्रेयस् में बदल दो ॥४४॥

४. एकत्व भावना

एक एव भगवानयमात्मा, ज्ञानदर्शनतरङ्गसरङ्गः ।
सर्वमन्यदुपकल्पितमेतद्, व्याकुलीकरणमेव ममत्वम् ।।४५।।

स्वागता

अर्थ :- यह एक आत्मा ही भगवान है, जो ज्ञान-दर्शन की तरंगों में विलास करने वाली है । इसके सिवाय अन्य समस्त कल्पना मात्र है । ममत्व आकुल-व्याकुल करने वाला है ।।४५।।

अबुधैः परभावलालसा-लसदज्ञानदशावशात्मभिः ।
परवस्तुषु हा स्वकीयता, विषयावेशवशाद् विकल्प्यते ।।४६।।

प्रबोधता

अर्थ :- पर-भाव को पाने की लालसा में पड़ी हुई अज्ञान-दशा से पराधीन अपण्डित आत्मा, इन्द्रिय-विषयों के आवेग के कारण पर-पदार्थों में भी आत्मबुद्धि (स्वकीयता-अपनापन) की कल्पना कर लेती है ।।४६।।

कृतिनां दयितेति चिन्तनं, परदारेषु यथा विपत्तये ।
विविधार्तिभयावहं तथा, परभावेषु ममत्वभावनम् ।। ४७ ।।

अर्थ :- जिस प्रकार परस्त्री में स्वस्त्री कल्पना बुद्धिमान् पुरुष के लिए आपत्ति का कारण बनती है, उसी प्रकार अन्य वस्तु में अपनेपन की भावना (ममत्वबुद्धि) विविध पीड़ाओं को देने वाली ही होती है ॥४७॥

अधुना परभावसंवृतिं हर,- चेतः परितोऽवगुण्ठितम् ।
क्षणमात्मविचारचन्दन- द्रुमवातोर्मिरसाः स्पृशन्तुमाम् ॥४८॥

अर्थ :- हे मन! चारों ओर से घिरे हुए पर-भाव रुप आवरण को तू दूर हटा दे, ताकि आत्मचिन्तन रुप चन्दन वृक्ष के पवन की उर्मि के रस का क्षणभर के लिए मुझे स्पर्श हो जाय ॥४८॥

एकतां समतोपेता-मेनामात्मन् विभावय ।
लभस्व परमानन्द- संपदं नमिराजवत् ॥ ४९ ॥ अनुष्टुप

अर्थ :- हे आत्मन् ! समत्व से युक्त एकता का तू भावन कर, जिससे नमि राजर्षि की तरह तुझे परमानन्द की सम्पत्ति प्राप्त होगी ॥४९॥

॥ चतुर्थ भावनाष्टकम् ॥

विनय चिन्तय वस्तुतत्त्वं, जगति निजमिह कस्य किम् ।
भवति मतिरिति यस्य हृदये,
दुरितमुदयति तस्य किम् ॥ विनय॰ ॥ ५० ॥

अर्थ :- हे विनय ! तू वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन कर । इस जगत् में वास्तव में अपना क्या है ? इस

प्रकार की बुद्धि जिसके हृदय में उत्पन्न होती है, क्या उसे किसी प्रकार के दुःख का उदय हो सकता है ? ।।५०।।

एक उत्पद्यते तनुमा-नेक एव विपद्यते ।
एक एव हि कर्म चिनुते,
स एककः फलमश्नुते ।। विनय० ।। ५१ ।।

अर्थ :- (इस संसार में)जीवात्मा अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेले ही मरता है, वह अकेले ही कर्मों का संग्रह करता है और वह अकेले ही उनके फल को भोगता है ।।५१।।

यस्य यावत् परपरिग्रह-विविधममतावीवधः ।
जलधि विन्हितपोतयुक्त्या,
पतति तावदसावधः ।। विनय० ।। ५२ ।।

अर्थ :- विविध प्रकार की ममताओं से भारी बने हुए प्राणी को जितना अन्य वस्तुओं का परिग्रह होता है, उतना ही वह समुद्र में रहनेवाले यान की तरह नीचे जाता है ।।५२।।

स्व-स्वभावं मद्यमुदितो, भुवि विलुप्य विचेष्टते ।
दृश्यतां परभावघटनात्,
पतति विलुठति जृम्भते ।। विनय० ।। ५३ ।।

अर्थ :- शराब के नशे में पागल बना हुआ व्यक्ति अपने मूल स्वभाव को त्यागकर पृथ्वी पर आलोटने की व्यर्थ चेष्टा करता है, इसी प्रकार पर-भाव की घटना से जीवात्मा नीचे गिरता है, आलोटता है और जम्हाई लेता है ।।५३।।

पश्य काञ्चनमितरपुद्गल- मिलितमञ्चति कां दशाम् ।
केवलस्य तु तस्य रूपं, विदितमेव भवादृशाम् ।।विनय० ।।५४।।

अर्थ :- अन्य पदार्थ के साथ मिलने पर स्वर्ण की क्या हालत होती है ? उसे देखो, और जब वह स्वच्छ होता है तब उसका रूप कैसा होता है ? इस बात को तो तुम जानते ही हो ना ? ।।५४।।

एवमात्मनि कर्मवशतो, भवति रूपमनेकधा ।
कर्ममलरहिते तु भगवति, भासते काञ्चनविधा ।।विनय०।।५५।।

अर्थ :- इसी प्रकार आत्मा भी कर्म के वशीभूत होकर नाना प्रकार के रूप धारण करता है और जब वह कर्ममल से रहित होता है, तब शुद्ध कंचन के समान दीप्तिमान होता है ।।५५।।

ज्ञानदर्शन-चरणपर्यव- परिवृतः परमेश्वरः ।
एक एवानुभव-सदने, स रमतामविनश्वरः ।। विनय० ।। ५६ ।।

अर्थ :- वह आत्मा (परमेश्वर) शाश्वत है और सदा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्यायों से घिरी हुई है और एक है । ऐसे परम अविनश्वर परमात्मा मेरे अनुभव मन्दिर में रमण करे ।।५६।।

रुचिर-समतामृतरसं क्षण-मुदितमास्वादय मुदा ।
विनय! विषयातीत-सुखरस, रति-रुदञ्चतु ते तदा ।।विनय०।। ५७।।

अर्थ :- जिस समता के अमृतरस का स्वाद तुझमें अचानक जाग उठा है, उसका क्षण भर के लिए आस्वादन कर । हे विनय ! विषय से अतीत सुख के रस में तुझे सदा प्रेम हो ।।५७।।

५. अन्यत्व भावना

परः प्रविष्टः कुरुते विनाशं, लोकोक्तिरेषा न मृषेति मन्ये ।
निर्विश्य कर्माणुभिरस्य किं किं,
ज्ञानात्मनो नो समपादि कष्टम् ॥ ५८ ॥ उपजाति

अर्थ :- 'अपने घर में अन्य का प्रवेश विनाश करता है', मैं मानता हूँ कि यह लोकोक्ति गलत नहीं है । ज्ञानस्वरूप आत्मा में कर्म के परमाणुओं का प्रवेश हो जाने से आत्मा ने किन-किन कष्टों को प्राप्त नहीं किया है ? ॥५८॥

खिद्यसे ननु किमन्यकथार्त्तः, सर्वदैव ममता-परतंत्रः ।
चिन्तयस्यनुपमान्कथमात्मन् नात्मनो गुणमणीन्न कदापि॥५९॥
स्वागता

अर्थ :- ममताधीन होकर अन्य की उपाधिजन्य कथाओं से तुम व्यर्थ खेद क्यों पाते हो ? और स्वयं के अनुपम गुणरत्नों का कभी विचार भी नहीं करते हो ॥५९॥

यस्मै त्वं यतसे बिभेषि च यतो, यत्रानिशं मोदसे,
यद्यच्छोचसि यद्यदिच्छसि हृदा, यत्प्राप्य पेप्रीयसे ।

स्निग्धो येषु निजस्वभावममलं निर्लोठ्य लालप्यसे,
तत्सर्वं परकीयमेव भगवन्नात्मन्न किञ्चित्तव ॥ ६० ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अर्थ :- जिसके लिए तू निरन्तर प्रयत्न करता है, जिससे तू निरन्तर डरता है, जहाँ निरन्तर खुश होता है, जिनके लिए शोक करता है, जिनको हृदय से चाहता है और जिसे प्राप्त कर तू बारम्बार खुश होता है, अपने निर्मल आत्म-स्वभाव की उपेक्षाकर जिन पदार्थों में स्नेहकर जैसा-तैसा बोलता है (याद रख) हे भाग्यवान् आत्मा ! वह सब दूसरों का है, उसमें तेरा कुछ भी नहीं है ॥६०॥

दुष्टाः कष्टकदर्थनाः कति न ताः सोढास्त्वया संसृतौ,
तिर्यङ्नारकयोनिषु प्रतिहतश्छिन्नो विभिन्नो मुहुः ।
सर्वं तत्परकीयदुर्विलसितं विस्मृत्य तेष्वेव हा,
रज्यन्मुह्यसि मूढ ! तानुपचरन्नात्मन्न किं लज्जसे ॥ ६१ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अर्थ :- इस संसार में महादुष्ट और कष्टकारी किन-किन कदर्थनाओं को तूने सहन नहीं किया है । तिर्यंच और नरकयोनि में बारम्बार मार खाई है, तुझे छेदा गया है, भेदा गया है, यह सब अन्य वस्तुओं का दुर्विलास ही है । अहो ! खेद है कि उसे भूलकर पुनः अन्य वस्तुओं में राग करता है । हे मूढ़ आत्मन् ! इस प्रकार की चेष्टा करते हुए तुझे लज्जा भी नहीं आती है ॥६१॥

ज्ञानदर्शनचारित्रकेतनां चेतनां विना ।
सर्वमन्यद् विनिश्चित्य यतस्व स्वहिताप्तये ॥ ६२ ॥ अनुष्टुप्

अर्थ :- ज्ञान, दर्शन और चारित्र के चिह्न वाली वस्तुओं को छोड़कर अन्य सभी वस्तुएँ पर हैं, ऐसा निर्णय कर स्वहित की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो ॥६२॥

॥ पंचम भावनाष्टकम् ॥

विनय निभालय निज-भवनं, विनय निभालय निज-भवनं,
तनु-धन-सुत-सदन-स्वजनादिषु,
किं निजमिह कुगतेखनम् ? ॥ विनय० ॥ ६३ ॥

अर्थ :- हे विनय ! तू अपने घर की (अच्छी तरह से) देखभाल कर ले । तेरे शरीर, धन, पुत्र, मकान तथा स्वजन आदि में से कोई भी तुझे दुर्गति में जाने से बचाने वाला नहीं है ॥६३॥

येन सहाश्रयसेऽतिविमोहा- दिदमहमित्यविभेदम् ।
तदपि शरीरं नियतमधीरं,
त्यजति भवन्तं धृतखेदम्॥ विनय०॥ ६४ ॥

अर्थ :- **'यह मैं ही हूँ'** इस प्रकार इस शरीर के साथ एकता कर जिसका तूने आश्रय लिया है, वह शरीर तो अत्यन्त अधीर है और कमजोर हो जाने पर वह तुझे छोड़ देता है ॥६४॥

जन्मनि जन्मनि विविध-परिग्रह-मुपचिनुषे च कुटुम्बम् ।
तेषु भवन्तं परभवगमने,
नानुसरति कृशमपि सुम्बम् ॥ विनय० ॥ ६५ ॥

अर्थ :- जन्म-जन्म में तूने विविध परिग्रह और कुटुम्ब का संग्रह किया है। पर-भवगमन के समय उसमें से छोटे से छोटा रूई का टुकड़ा भी तेरे साथ गमन नहीं करता है ॥६५॥

त्यज ममता-परिताप-निदानं, पर-परिचय-परिणामम् ।
भज निःसङ्गतया विशदीकृत-
मनुभवसुख-रसमभिरामम् ॥ विनय० ॥ ६६ ॥

अर्थ :- ममता और सन्ताप के कारणभूत पर-परिचय के परिणाम (अध्यवसाय) का तू त्याग कर दे और निस्संग होकर अत्यन्त निर्मल अनुभव सुख का आस्वादन कर ॥६६॥

पथि-पथि विविधपथैः पथिकैः सह, कुरुते कः प्रतिबन्धम् ?
निज-निजकर्मवशैः स्वजनैः सह,
किं कुरुषे ममताबन्धम् ? ॥ विनय० ॥ ६७ ॥

अर्थ :- अलग-अलग विभिन्न मार्गों में अनेक पथिक मिलते हैं, परन्तु उनके साथ मैत्री कौन करता है ? सभी स्वजन अपने-अपने कर्म के पराधीन हैं, अतः उनके साथ तू व्यर्थ ही ममता क्यों करता है ? ॥६७॥

प्रणयविहीने दधदभिष्वङ्गं, सहते बहुसन्तापम् ।
त्वयि निःप्रणये पुद्गलनिचये,
वहसि मुधा ममतातापम् ॥ विनय° ॥ ६८ ॥

अर्थ :- जिसे हमारे प्रति प्रेम नहीं है, उससे प्रेम करने में अनेक सन्ताप सहन करने पड़ते हैं । इन पुद्गलों के समूह को तेरे प्रति कोई प्रेम नहीं है । तू व्यर्थ ही ममता की गर्मी वहन कर रहा है ॥६८॥

त्यज संयोगं नियत-वियोगं, कुरु निर्मल-मवधानम् ।
नहि विदधानः कथमपि तृप्यसि,
मृगतृष्णाघनरसपानम् ॥ विनय° ॥ ६९ ॥

अर्थ :- जिनका अन्त में अवश्य वियोग होने वाला है उन संयोगों का तुम त्याग कर दो और निर्मल भाव धारण करो । मृग-तृष्णा के जल का कितना ही पान किया जाय, उससे कभी तृप्ति होने वाली नहीं है ॥६९॥

भज जिनपतिमसहाय-सहायं, शिवगति-सुगमोपायम् ।
पिब गदशमनं परिहृतवमनं,
शान्तसुधारसमनपायम् ॥ विनय° ॥ ७० ॥

अर्थ :- असहाय की सहायता करने वाले जिनेश्वरदेव को तुम भजो, यही मुक्ति-प्राप्ति का सरल उपाय है । शान्तसुधारस का तू पान कर, जो रोग का शामक है, वमन को दूर करने वाला है और अविनाशी है ॥७०॥

६. अशुचि भावना

सच्छिद्रो मदिराघटः परिगलत्तल्लेशसंगशुचिः,
शुच्यामृद्य मृदा बहिः स बहुशो, धौतोऽपि गङ्गोदकैः ।
नाधत्ते शुचितां यथा तनुभृतां कायो निकायो महा-
बीभत्सास्थिपुरीषमूत्ररजसां नायं तथा शुद्ध्यति ॥ ७१ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अर्थ :- छोटे-छोटे छिद्रों से युक्त शराब के घड़े में से धीरे-धीरे शराब की बूंदे बाहर निकल कर घड़े के बाह्य भाग को भी अपवित्र कर देती हैं । उस बाह्य भाग में सुन्दर मिट्टी का मर्दन किया जाय अथवा गंगा के पवित्र जल से उसे बारम्बार धोया जाय, फिर भी वह पवित्र नहीं बनता है, उसी प्रकार अति बीभत्स हड्डी, मल-मूत्र तथा रक्त के ढेर समान यह मानवदेह भी मात्र स्नानादि से पवित्र नहीं बनता है ॥७१॥

स्नायं स्नायं पुनरपि पुनः स्नान्ति शुद्धाभिरद्भि-
र्वारं वारं बत मल-तनुं चन्दनैरर्चयन्ते ।
मूढात्मानो वयमपमलाः प्रीतिमित्याश्रयन्ते,
नो शुद्ध्यन्ते कथमवकरः शक्यते शोद्धुमेवम् ॥ ७२ ॥

मन्दाक्रान्ता

अर्थ :- मूढ़ प्राणी बारम्बार स्नान करके मल से युक्त इस शरीर को शुद्ध जल से साफ करता है, उसके बाद उस पर चन्दन का लेप करता है और उसके बाद **'हम मल से मुक्त हो गए'** इस प्रकार प्रीति का आश्रय करता है। किन्तु वह कभी शुद्ध नहीं होता है, क्या कचरे के ढेर को किसी प्रकार से शुद्ध किया जा सकता है ? ॥७२॥

कर्पूरादिभिरर्चितोऽपि लशुनो नो गाहते सौरभं,
नाजन्मोऽपकृतोऽपि हन्त पिशुनः सौजन्यमालम्बते ।
देहोऽप्येष तथा जहाति न नृणां स्वाभाविकीं विस्रतां,
नाभ्यक्तोऽपि विभूषितोऽपि बहुधा पुष्टोऽपि विश्वस्यते ॥७३॥

शार्दूलविक्रीडित

अर्थ :- कर्पूर आदि सुगन्धित पदार्थों से वासित करने पर भी लहसुन कभी सुगंध को ग्रहण नहीं करता है। जीवन पर्यन्त नीच व्यक्ति पर कितना ही उपकार किया जाय तो भी उसमें सज्जनता नहीं आती है, इसी प्रकार मनुष्य का देह भी अपनी स्वाभाविक दुर्गन्ध को नहीं छोड़ता है। इस देह की कितनी ही सेवा की जाय, इस देह को कितने ही आभूषणों से विभूषित किया जाय, इस देह को कितना ही पुष्ट किया जाय, फिर भी इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता है ॥७३॥

यदीयसंसर्गमवाप्य सद्यो, भवेच्छुचीनाम शुचित्वमुच्चैः ।
अमेध्ययोनेर्वपुषोऽस्य शौच-
संकल्पमोहोऽयमहो महीयान् ॥७४ ॥ उपजाति

अर्थ :- जिसके संसर्ग को प्राप्त करके पवित्र वस्तु भी शीघ्र ही अत्यन्त अपवित्र हो जाती है तथा जो शरीर अपवित्र वस्तुओं की उत्पत्ति का केन्द्र है, ऐसे शरीर की पवित्रता की कल्पना करना महा अज्ञान ही है ॥७४॥

इत्यवेत्य शुचिवादमतथ्यं, पथ्यमेव जगदेकपवित्रं ।
शोधनं सकलदोषमलानां, धर्ममेव हृदये निदधीथाः ।७५। स्वागता

अर्थ :- इस प्रकार '**शुचिवाद**' को अतथ्य समझकर सकल दोषों की शुद्धि करने वाले जगत् के एकमात्र पवित्र धर्म को हृदय में धारण करो ॥७५॥

॥ षष्ठ भावनाष्टकम् ॥

भावय रे वपुरिदमतिमलिनं, विनय विबोधय मानसनलिनम् ।
पावनमनुचिन्तय विभुमेकं,
परम महोमयमुदितविवेकम् ॥ भावय रे० ॥ ७६ ॥

अर्थ :- हे विनय ! तू इस प्रकार की भावना कर कि यह शरीर अत्यन्त मलिन है । अपने मानस कमल को विकसित कर जहाँ एक प्रकाशवान, विवेकवान और महापवित्र आत्मा है, उसका बारम्बार चिन्तन कर ॥७६॥

दम्पतिरेतोरुधिरविवर्ते, किं शुभमिह मलकश्मलगर्ते ।
भृशमपि पिहितं स्त्रवति विरूपं,
को बहु मनुतेऽवस्करकूपम् ॥ भावय रे० ॥ ७७ ॥

अर्थ :- दम्पति के वीर्य और रक्त के कचरे के ढेर से जो निर्मित हुआ है, उस देह में अच्छा क्या हो सकता है ? उसको बारम्बार ढंक देने पर भी उसमें से बीभत्स पदार्थ बहते रहते हैं । इस कचरे के कूप की कौन प्रशंसा करे ? ॥७७॥

भजति सचन्द्रं शुचिताम्बूलं, कर्तुं मुखमारुतमनुकूलम् ।
तिष्ठति सुरभि कियन्तं कालं,
मुखमसुगन्धि जुगुप्सितलालम् ॥ भावय रे० ॥ ७८ ॥

अर्थ :- मुख से अनुकूल पवन निकालने के लिए मनुष्य कर्पूरादि सुगन्धित पदार्थों से युक्त पान (तांबूल) खाता है । किन्तु मुख स्वयं ही घृणित लार से भरा हुआ है, उसकी यह सुगन्ध कब तक रहती है ? ॥७८॥

असुरभिगन्धवहोऽन्तरचारी, आवरितुं शक्यो न विकारी ।
वपुरुपजिघ्रसि वारं-वारं,
हसति बुधस्तव शौचाचारम् ॥ भावय रे० ॥ ७९ ॥

अर्थ :- शरीर में व्याप्त दुर्गन्धित और विकारी पवन को रोका नहीं जा सकता है, ऐसे शरीर को तू बारम्बार सूंघता है । विद्वज्जन तेरे इस '**शौचाचार**' पर हास्य करते हैं ॥७९॥

द्वादश-नव रन्ध्राणि निकामं, गलदशुचीनि न यान्ति विरामम् ।
यत्र वपुषि तत्कलयसि पूतं,
मन्ये तव नूतनमाकूतम् ॥ भावय रे० ॥ ८० ॥

अर्थ :- स्त्री-शरीर के बारह और पुरुष-शरीर के नौ द्वारों में से सतत् अपवित्रता बह रही है, जो कभी रुकती नहीं है, ऐसे शरीर में तू पवित्रता की कल्पना करता है, यह तेरा कैसा नवीन तर्क है ? ॥८०॥

अशितमुपस्कर-संस्कृतमन्नं, जगति जुगुप्सां जनयति हन्नम् ।
पुंसवनं धैनवमपि लीढं,
भवति विगर्हितमति जनमीढम् ॥ भावय रे० ॥ ८१ ॥

अर्थ :- देह मसाले आदि से संस्कारित अन्न को खाकर, दुनिया में केवल घृणा पैदा करता है । गाय का मधुर दूध भी मूत्र रूप में बदलकर निन्दा का पात्र बनता है ॥८१॥

केवलमलमय-पुद्गलनिचये, अशुचीकृत-शुचि-भोजनसिचये ।
वपुषि विचिन्तय परमिह सारं,
शिवसाधन-सामर्थ्यमुदारम् ॥ भावय रे० ॥ ८२ ॥

अर्थ :- यह तो केवल मल के परमाणुओं का ढेर है, पवित्र भोजन और वस्त्रों को भी अपवित्र करने वाला है, फिर भी इसमें मोक्ष-प्राप्ति का सामर्थ्य है, यही इसका सार है ॥८२॥

येन विराजितमिदमति पुण्यं, तच्चिन्तय चेतन नैपुण्यम् ।
विशदागममधिगम्य निपानं,
विरचय शान्तसुधारसपानम् ॥ भावय रे० ॥ ८३ ॥

अर्थ :- हे चेतन ! तू ऐसी निपुणता का चिन्तन कर, जिससे इसे महान् पुण्य के रूप में बिराजमान किया जा सके। विस्तृत आगम रूप जलाशय को जानकर **शान्त सुधारस** का पान कर ॥८३॥

७. आश्रव भावना

यथा सर्वतो निर्झरैरापतद्भि:, प्रपूर्येत सद्य: पयोभि-स्तटाक: ।
तथैवाश्रवै: कर्मभि: सम्भृतोऽङ्गी,
भवेद् व्याकुलश्चञ्चल: पङ्किलश्च ॥ ८४ ॥ **भुजंगप्रयातम्**

अर्थ :- जिस प्रकार चारों ओर से आते हुए झरनों के जल से तालाब शीघ्र ही भर जाता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी आस्रवद्वारों से आने वाले कर्मों से भर जाता है और फिर व्याकुल, चंचल और मलिन बनता है ॥८४॥

यावत् किञ्चिदिवानुभूय तरसा कर्मेह निर्जीर्यते,
तावच्चास्रवशत्रवोऽनुसमयं सिञ्चन्ति भूयोऽपि तत् ।
हा कष्टं कथमास्रवप्रतिभटा: शक्या निरोद्धुं मया,
संसारादतिभीषणान्मम हहा मुक्ति: कथं भाविनी ॥ ८५ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अर्थ :- जब तक कुछ कर्मों को भोगकर जल्दी ही उनकी निर्जरा कर देते हैं, तब तक तो आस्रव रूप शत्रु प्रति-समय अन्य कर्मों को लाकर पुन: सिंचन कर देता है । हा ! खेद है मैं उन आस्रव शत्रुओं का निरोध कैसे करूँ ? इस भीषण संसार से मैं कैसे मुक्त बनूँ ? ॥८५॥

मिथ्यात्वाविरति-कषाययोग-संज्ञा-
श्चत्वारः सुकृतिभिरास्त्रवाः प्रदिष्टाः ।
कर्माणि प्रतिसमयं स्फुटैरमीभि-
र्बध्नन्तो भ्रमवशतो भ्रमन्ति जीवाः ॥ ८६ ॥ प्रहर्षिणी

अर्थ :- महापुरुषों ने मिथ्यात्त्व, अविरति कषाय और योग दो चार आस्त्रव कहा है। इन आस्त्रवों के द्वारा प्रति समय कर्मों को बाँधते हुए जीव भ्रमवश संसार में भटकते हैं ॥८६॥

इन्द्रियाव्रत-कषाय-योगजाः, पञ्च-पञ्च-चतुरन्वितास्त्रयः ।
पञ्चविंशतिरसत्क्रिया इति,
नेत्र-वेद-परिसंख्ययाप्यमी ॥ ८७ ॥ रथोद्धता

अर्थ :- इन्द्रिय, अव्रत, कषाय और योग में से इनकी उत्पत्ति होती है और इनकी संख्या क्रमशः पाँच, पाँच, चार और तीन हैं तथा पच्चीस असत् क्रियाओं के साथ इनकी (आस्त्रवों की) संख्या बयालीस होती है ॥८७॥

इत्यास्त्रवाणामधिगम्य तत्त्वं, निश्चित्य सत्त्वं श्रुतिसन्निधानात् ।
एषां निरोधे विगलद्विरोधे,
सर्वात्मना द्राग् यतितव्यमात्मन् ॥ ८८ ॥ इन्द्रवज्रा

अर्थ :- इस प्रकार आस्त्रवों के तत्त्व को जानकर तथा आगम अभ्यास से तत्त्व का निर्णय कर, हे आत्मन् ! इनके विरोध रहित निरोध के लिए तुझे शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिए ॥८८॥

परिहरणीया रे, सुकृतिभिरास्त्रवा, हृदि समतामवधाय ।
प्रभवन्त्येते रे, भृशमुच्छृङ्खला, विभु गुण-विभव-वधाय ।८९।

अर्थ :- हृदय में समता धारणकर सज्जन पुरुषों को आस्त्रव का त्याग कर देना चाहिए । अत्यन्त उत्छृंखल बने हुए ये (आस्त्रव) आत्मा के गुण-वैभव का घात करने में समर्थ हैं ॥८९॥

कुगुरु-नियुक्ता रे, कुमति-परिप्लुताः, शिवपुरपथमपहाय ।
प्रयतन्तेऽमी रे, क्रियया दुष्ट्या, प्रत्युत शिव-विरहाय ॥ ९० ॥

अर्थ :- कुगुरु से प्रेरित अथवा कुमति से भरे हुए प्राणी मोक्षमार्ग का त्यागकर दुष्ट क्रिया के द्वारा उल्टे मोक्ष के विरह के लिए ही प्रयत्नशील होते हैं ॥९०॥

अविरतचित्ता रे, विषय-वशीकृता, विषहन्ते विततानि ।
इह परलोके रे, कर्म-विपाकजान्य-विरल-दुःख-शतानि॥९१॥

अर्थ :- विरति से रहित चित्त वाले, विषय के वशीभूत बने हुए प्राणी कर्म के विपाक जन्य अति भयंकर सैकड़ों दुःखों को इस लोक और परलोक में निरन्तर सहन करते हैं ॥९१॥

करि-झष-मधुपा रे, शलभ-मृगादयो, विषय-विनोद-रसेन ।
हन्त लभन्ते रे, विविधा वेदना, बत परिणति-विरसेन ॥९२॥

अर्थ :- हाथी, मछली, भ्रमर, पतंगा तथा हिरण आदि विषयविलास के प्रेम के कारण अहा ! खेद है, बेचारे ! विविध वेदनाओं को प्राप्त करते हैं । वास्तव में, विषय की

परिणति विरस (दुःखदायी) है ॥९२॥

उदित-कषाया रे, विषय-वशीकृता, यान्ति महानरकेषु ।
परिवर्तन्ते रे, नियतमनन्तशो, जन्म-जरा-मरणेषु ॥ ९३ ॥

अर्थ :- कषायों के उदय वाले और विषय के वशीभूत हुए प्राणी भयंकर नरक में जाते हैं और निरन्तर जन्म, जरा और मरण के चक्र में अनन्त बार चक्कर लगाते रहते हैं ॥९३॥

मनसा वाचा रे, वपुषा चञ्चला, दुर्जय-दुरित-भरेण ।
उपलिप्यन्ते रे, तत आस्त्रवजये, यततां कृतमपरेण ॥ ९४ ॥

अर्थ :- मन, वचन और काया की चंचलता से प्राणी दुर्जय पाप के भार से लिप्त हो जाता है, अतः आस्त्रव-जय के लिए प्रयत्न करो । अन्य सभी प्रयत्न बेकार हैं ॥९४॥

शुद्धा योगा रे, यदपि यतात्मनां, स्त्रवन्ते शुभकर्माणि ।
काञ्चन-निगडांस्तान्यपि जानीयात्, हत-निर्वृति-शर्माणि। ९५।

अर्थ :- यद्यपि संयमी आत्माएँ शुद्ध योगों के द्वारा शुभकर्मों का आस्त्रव करती हैं, उनको भी स्वर्ण की बेड़ियाँ समझो, क्योंकि वे भी मोक्षसुख में प्रतिबन्धक हैं ॥९५॥

मोदस्वैवं रे, सास्त्रव-पाप्मनां, रोधे धियमाधाय ।
शान्त-सुधारस-पानमनारतं, विनय विधाय विधाय ॥९६॥

अर्थ :- हे विनय ! आस्त्रव सहित पापात्मा के विरोध में अपनी बुद्धि को लगा और **शान्त सुधारस** का पान करके आनन्द प्राप्त कर ॥९६॥

८. संवर भावना

येन येन य इहास्त्रवरोधः, संभवेन्नियतमौपयिकेन ।
आद्रियस्व विनयोद्यतचेता-स्तत्तदान्तरदृशा परिभाव्य॥९७॥

स्वागता

अर्थ :- हे विनय ! जिन-जिन नियत उपायों के द्वारा आस्त्रवों का रोध हो सकता हो, अन्तर्दृष्टि से उनका विचार कर, उद्यत चित्त वाला बनकर उनका आदर कर (उनका उपयोग कर) ॥९७॥

संयमेन विषयाविरतत्वे, दर्शनेन वितथाभिनिवेशम् ।
ध्यानमार्त्तमथ रौद्रमजस्त्रं, चेतसः स्थिरतया च निरुन्ध्याः॥९८॥

स्वागता

अर्थ :- संयम से इन्द्रिय-विषयों और अविरति को, सम्यक्त्व से मिथ्या आग्रह को तेथा चित्त के स्थैर्य से आर्त और रौद्रध्यान को दबा दो ॥९८॥

क्रोधं क्षान्त्या मार्दवेनाभिमानम्,
हन्या मायामार्जवेनोज्ज्वलेन ।
लोभं वारांराशिरौद्रं निरुन्ध्या,
संतोषेण प्रांशुना सेतुनेव ॥ ९९ ॥ शालिनी

अर्थ :- क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, निर्मल सरलता से माया को तथा अति उच्च दीवार वाले बाँध (सेतु) सन्तोष से लोभ को दबा दो ॥९९॥

गुप्तिभिस्तिसृभिरेवमजय्यान्, त्रीन् विजित्य तरसाधमयोगान् ।
साधुसंवरपथे प्रयतेथा, लप्स्यसे हितमनहतमिद्धम् ॥ १०० ॥

स्वागता

अर्थ :- अत्यन्त दुर्जेय मन, वचन और काया के योगों को तीन गुप्ति द्वारा शीघ्र जीत लो और पवित्र संवर के पथ पर प्रवृत्तिशील बन जाओ, जिससे सनातन मोक्ष-सुख प्राप्त हो जायेगा ॥१००॥

एवं रुद्धेष्वमलहृदयैरास्त्रवेष्वाप्तवाक्य-
श्रद्धा-चञ्चत्सितपट-पटुः सुप्रतिष्ठानशाली ।
शुद्धैर्योगैर्जवनपवनैः प्रेरितो जीवपोतः,
स्त्रोतस्तीर्त्वा भवजलनिधेर्याति निर्वाणपुर्याम् ॥ १०१ ॥

मन्दाक्रान्ता

अर्थ :- निर्मल हृदय के द्वारा आस्त्रवों को रोकने पर, आप्त पुरुषों के वाक्यों में श्रद्धारूपी श्वेतपट्ट से सन्नद्ध, सुप्रतिष्ठित जीवरूपी नाव शुद्ध योग रूप वेगवर्द्धक पवन से प्रेरित होता है और संसार-सागर के जल को पारकर निर्वाणपुरी में पहुँच जाता है ॥१०१॥

शृणु शिवसुख-साधन-सदुपायम्,
शृणु शिवसुख-साधन-सदुपायम् ।
ज्ञानादिक-पावन-रत्नत्रय-
परमाराधनमनपायम् ॥ शृणु० ॥ १०२ ॥

अर्थ :- शिवसुख की प्राप्ति के साधनभूत सम्यग् उपायों का श्रवण कर । शिवसुख-प्राप्ति के साधनभूत सम्यग् उपायों का श्रवण कर । यह (उपाय) ज्ञान आदि पवित्र रत्नत्रयी की आराधना स्वरूप है, जो अपाय रहित है ॥१०२॥

विषय-विकारमपाकुरु दूरं, क्रोधं मानं सह मायम् ।
लोभं-रिपुं च विजित्य सहेलं,
भज संयमगुण-मकषायम् ॥ शृणु० ॥ १०३ ॥

अर्थ :- क्रोध, मान और माया के साथ विषय के विकारों को दूर कर दो और बात-बात में लोभ शत्रु को जीत कर कषायमुक्त संयम गुण को भजो ॥१०३॥

उपशम-रसमनुशीलय मनसा, रोष-दहन-जलदप्रायम् ।
कलय विरागं धृत-परभागं,
हृदि विनयं नायं नायम् ॥ शृणु० ॥ १०४ ॥

अर्थ :- मन से उपशमरस का अनुशीलन करो, जो प्रायः क्रोधरूपी आग के लिए बादल के समान है । हृदय में

बारम्बार विनय को ला-लाकर श्रेष्ठ धैर्यरूप विरक्ति के स्वरूप को समझ लो ॥१०४॥

आर्तं रौद्रं ध्यानं मार्जय, दह विकल्प-रचनाऽनायम् ।
यदियमरुद्धा मानसवीथी,
तत्त्वविदः पन्था नाऽयम् ॥ शृणु० ॥ १०५ ॥

अर्थ :- आर्त और रौद्रध्यान (की गंदगी) को साफ कर दो, विकल्प-कल्पना के जाल को जला डालो । क्योंकि अनिरुद्ध मानसिक मार्ग तत्त्वज्ञानियों का मार्ग नहीं है ॥१०५॥

संयम-योगैरवहितमानस- शुद्ध्या चरितार्थय कायम् ।
नाना-मत-रुचि-गहने भुवने,
निश्चिनु शुद्ध-पथं नायम् ॥ शृणु० ॥ १०६ ॥

अर्थ :- निर्मल मानसिक शुद्धि के साथ संयम योगों के द्वारा काया को चरितार्थ करो । नाना प्रकार के मत-मतान्तरों की रुचि से अत्यन्त गहन इस संसार में न्यायपूर्वक जो शुद्ध पथ है, उसका निश्चय करो ॥१०६॥

ब्रह्मव्रत-मङ्गीकुरु विमलं, बिभ्राणं गुण-समवायम् ।
उदितं गुरुवदनादुपदेशं, संगृहाण शुचिमिव रायम् ॥शृणु०। १०७ ।

अर्थ :- अनेक गुणों के समुदाय रूप निर्मल ब्रह्मचर्य व्रत को अंगीकार करो । गुरु के मुख से निकले अत्यन्त पवित्र रत्न के निधानरूप उपदेशों का संग्रह करो ॥१०७॥

संयम-वाड्मय-कुसुमरसैरिति-सुरभय निजमध्यवसायम् ।
चेतनमुपलक्षय कृत-लक्षण-
ज्ञान-चरण-गुण-पर्यायम् ॥ शृणु॰ ॥ १०८ ॥

अर्थ :- संयम और शास्त्ररूप पुष्पों से अपने अध्यवसायों को सुगंधित करो और ज्ञान-चारित्ररूप गुण और पर्याय वाले चेतन के स्वरूप को भलीभांती समझ लो ॥१०८॥

वदनमलं कुरु पावनरसनं, जिनचरितं गायं गायम् ।
सविनय-शान्तसुधारसमेनं, चिरं नन्द पायं पायम्। शृणु॰। १०९।

अर्थ :- जिनेश्वर के चरित्रों का पुनः-पुनः गान करके रसना को पावन करो और वदन को अलंकृत करो। इस शान्त सुधारस का बारम्बार पानकर दीर्घकाल तक आनन्द करो ॥१०९॥

९. निर्जरा भावना

यन्निर्जरा द्वादशधा निरुक्ता, तद् द्वादशानां तपसां विभेदात् ।
हेतुप्रभेदादिह कार्यभेदः,
स्वातन्त्र्यतस्त्वेकविधैव सा स्यात् ॥ ११० ॥ इंद्रवज्रा

अर्थ :- बारह प्रकार के तप के भेद के कारण निर्जरा के भी बारह प्रकार कहे गये हैं। हेतु के भेद से यहाँ कार्य में भेद है, परन्तु स्वतन्त्र दृष्टि से विचार करें तो निर्जरा एक ही प्रकार की होती है ॥११०॥

काष्ठोपलादिरूपाणां, निदानानां विभेदतः ।
वह्निर्यथैकरूपोऽपि, पृथग्रूपो विवक्ष्यते ॥ १११ ॥ अनुष्टुप्

अर्थ :- जिस प्रकार अग्नि एक ही प्रकार की होती हुई भी काष्ठ तथा पत्थर आदि हेतुओं के भेद से अलग-अलग भी कही जाती है ॥१११॥

निर्जरापि द्वादशधा, तपोभेदैस्तथोदिता ।
कर्मनिर्जरणात्मा तु, सैकरूपैव वस्तुतः ॥ ११२ ॥

अर्थ :- इसी प्रकार तप के बारह प्रकार होने से निर्जरा भी बारह प्रकार की कही गई है, लेकिन कर्म-क्षय की दृष्टि से तो निर्जरा एक ही प्रकार की है ॥११२॥

निकाचितानामपि कर्मणां यद्, गरीयसां भूधरदुर्धराणाम् ।
विभेदने वज्रमिवातितीव्रं, नमोऽस्तु तस्मै तपसेऽद्भुताय ॥११३ ॥

उपेन्द्रवज्रा

अर्थ :- विशाल और दुर्धर पर्वतों को तोड़ने में वज्र अत्यन्त तेजी से काम करता है, इसी प्रकार अत्यन्त निकाचित कर्मों को तोड़ने में भी तप अत्यन्त तीव्रता से काम करता है, ऐसे अद्भुत तप को नमस्कार हो ॥११३॥

किमुच्यते सत्तपसः प्रभावः, कठोरकर्मार्जितकिल्बिषोऽपि ।
दृढप्रहारीव निहत्य पापं, यतोऽपवर्गं लभतेऽचिरेण ॥११४॥

उपजाति

अर्थ :- सम्यग् तप के प्रभाव की तो क्या बात करें ? इसके प्रभाव से तो कठोर और भयंकर पाप करने वाले दृढ़प्रहारी जैसे भी शीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर जाते हैं ॥११४॥

यथा सुवर्णस्य शुचिस्वरूपं, दीप्तः कृशानुः प्रकटीकरोति ।
तथात्मनः कर्मरजो निहत्य,
ज्योतिस्तपस्तद् विशदीकरोति ॥११५॥ **उपजाति**

अर्थ :- जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि स्वर्ण के शुद्ध स्वरूप को प्रगट करती है, उसी प्रकार तप भी आत्मा के कर्म-मैल का नाश कर, उसके ज्योतिर्मय स्वभाव को फैलाता है ॥११५॥

बाह्येनाभ्यन्तरेण प्रथितबहुभिदा जीयते येन शत्रु-
श्रेणी बाह्यान्तरङ्गा भरतनृपतिवद् भावलब्धद्रढिम्ना ।

यस्मात् प्रादुर्भवेयुः प्रकटितविभवा लब्धयः सिद्धयश्च,
वन्दे स्वर्गापवर्गार्पण पटु सततं तत्तपो विश्ववन्द्यम् ॥ ११६ ॥

स्रग्धरा

अर्थ :- बाह्य और अभ्यन्तर दृष्टि से यह तप बहुत भेदों वाला है, जिससे भरत महाराजा की तरह भावना से प्राप्त दृढ़ता से बाह्य और अभ्यन्तर शत्रुओं की श्रेणी जीत ली जाती है, जिसमें से प्रगट वैभवशाली लब्धियाँ और सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, स्वर्ग और आपवर्ग को देने में चतुर ऐसे विश्ववन्द्य तप को मैं वन्दन करता हूँ ॥११६॥

विभावय विनय तपो-महिमानं, बहुभव-सञ्चितदुष्कृतममुना,
लभते लघु लघिमानम्,
विभावय विनय तपो महिमानम् ॥ विभा० ॥ ११७ ॥

अर्थ :- हे विनय ! तप की महिमा का तू चिन्तन कर । इस तप से अनेक भवों में संचित किए गए पाप शीघ्र ही अत्यन्त कम हो जाते हैं । हे विनय ! तप की महिमा का तू विचार कर ॥११७॥

याति घनाऽपि घनाघनपटली, खरपवनेन विरामम् ।
भजति तथा तपसा दुरिताली, क्षणभङ्गुर-परिणामम्॥विभा० ॥११८॥

अर्थ :- जिस प्रकार तीव्र पवन के द्वारा भयंकर मेघ का आडम्बर भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तप से पापों की श्रेणी भी क्षणभंगुर बन जाती है ॥११८॥

वाञ्छितमाकर्षति दूरादपि, रिपुमपि व्रजति वयस्यम् ।
तप इदमाश्रय निर्मलभावा-
दागम-परम-रहस्यम् ॥ विभा० ॥ ११९ ॥

अर्थ :- तप दूर रहे मनोरथों को खींचकर निकट ले आता है । तप से शत्रु भी मित्र में बदल जाता है । हे आत्मन् ! निर्मल भाव से इस तप का आश्रय करो । यही आगम का परम रहस्य है ॥११९॥

अनशनमूनोदरतां वृत्ति- ह्रासं रस-परिहारम् ।
भज सांलीन्यं कायक्लेशं,
तप इति बाह्यमुदारम् ॥ विभा० ॥ १२० ॥

अर्थ :- अनशन, ऊणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, संलीनता और कायक्लेश, ये बाह्य तप हैं ॥१२०॥

प्रायश्चित्तं वैयावृत्त्यम्, स्वाध्यायं विनयं च ।
कायोत्सर्गं शुभध्यानम्,
आभ्यन्तरमिदमं च ॥ विभा० ॥ १२१ ॥

अर्थ :- प्रायश्चित्त, वैयावच्च, स्वाध्याय, विनय, कायोत्सर्ग और शुभध्यान, आभ्यंतर तप हैं ॥१२१॥

शमयति तापं गमयति पापं, रमयति मानस-हंसम् ।
हरति विमोहं दूरारोहं,
तप इति विगताशंसम् ॥ विभा० ॥ १२२ ॥

अर्थ :- आशंसा रहित तप ताप को शान्त करता है, पाप को दूर करता है, मनरूपी हंस को प्रसन्न करता है और दुष्कर मोह को हर लेता है ॥१२२॥

संयम-कमला-कार्मणमुज्ज्वल-शिव-सुख-सत्यंकारम् ।
चिन्तित-चिन्तामणिमाराधय,
तप इह वारंवारम् ॥ विभा० ॥ १२३ ॥

अर्थ :- तप संयम रूपी लक्ष्मी का वशीकरण है । निर्मल मोक्ष का वचन देता है । इच्छाओं को पूर्ण करने में चिन्तामणि है, ऐसे तप का बारम्बार आराधन करो ॥१२३॥

कर्मगदौषधमिदमिदमस्य च, जिनपतिमतमनुपानम् ।
विनय समाचर सौख्यनिधानं,
शान्त-सुधारस-पानम् ॥ विभा० ॥ १२४ ॥

अर्थ :- यह तप कर्मरूप व्याधि की औषध है और जिनेश्वर का मत उसका अनुपान है । हे विनय ! सुख के निधान स्वरूप शान्त सुधारस का पान करो ॥१२४॥

१०. धर्म भावना

दानं च शीलं च तपश्च भावो, धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन ।
निरूपितो यो जगतां हिताय,
स मानसे मे रमतामजस्त्रम् ॥ १२५ ॥ उपजाति

अर्थ :- जिनेश्वर बन्धुओं ने जगत् के हित के लिए दान, शील, तप और भाव स्वरूप चार प्रकार के धर्म बतलाये हैं, वह (धर्म) मेरे मन में सदा रमण करे ॥१२५॥

सत्य-क्षमा-मार्दव-शौच-सङ्ग-
त्यागाऽऽर्जव-ब्रह्म-विमुक्तियुक्तः ।
यः संयमः किं च तपोऽवगूढ-
श्चारित्रधर्मो दशधाऽयमुक्तः ॥ १२६॥ इन्द्रवज्रा

अर्थ :- सत्य, क्षमा, मार्दव, शौच, संगत्याग (अपरिग्रह), आर्जव, ब्रह्मचर्य, विमुक्ति (लोभत्याग), संयम और तप रूप दस प्रकार का चारित्र-धर्म कहा गया है ॥१२६॥

यस्य प्रभावादिह पुष्पदन्तौ, विश्वोपकाराय सदोदयेते ।
ग्रीष्मोष्मभीष्मामुदितस्तडित्वान्,
काले समाश्वासयति क्षितिं च ॥ १२७ ॥ इन्द्रवज्रा

अर्थ :- इसके (धर्म के) प्रभाव से ही सूर्य और चन्द्रमा विश्व के उपकार के लिए सदा उदित होते हैं और ग्रीष्म के भयंकर ताप से संतप्त पृथ्वी को समय पर मेघ शान्त करता है ॥१२७॥

उल्लोलकल्लोलकलाविलासै-
र्न प्लावयत्यम्बुनिधिः क्षितिं यत् ।
न घ्नन्ति यद्व्याघ्रमरुद्दवाद्याः
धर्मस्य सर्वोऽप्य-नुभाव एषः ॥ १२८ ॥ इन्द्रवज्रा

अर्थ :- उछलती हुई जल-तरंगों से समुद्र पृथ्वीतल को डुबो नहीं देता है तथा व्याघ्र, सिंह, तूफान और दावानल (सर्व प्राणियों का) संहार नहीं करते हैं; यह धर्म का ही प्रभाव है ॥१२८॥

यस्मिन्नैव पिता हिताय यतते,भ्राता च माता सुतः,
सैन्यं दैन्यमुपैति चापचपलं यत्राऽफलं दोर्बलम् ।
तस्मिन् कष्टदशाविपाकसमये, धर्मस्तु संवर्मितः,
सज्जः सज्जन एष सर्वजगतस्त्राणाय बद्धोद्यमः ॥ १२९ ॥
शार्दूलविक्रिडितम्

अर्थ :- जिस दशा में पिता, माता, भाई और पुत्र भी हित के लिए प्रवृत्ति नहीं करते (बल्कि अहित के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं), सैन्य भी दुर्बल हो जाय और धनुष-बाण को

धारण करने में भुजाएँ भी असमर्थ हो जायें, ऐसी कष्टदशा के विपाक समय में, भलीभांती बद्ध कवच वाला सज्जन रूप धर्म ही सर्व जगत् के रक्षण के लिए उद्यमशील होता है ॥१२९॥

त्रैलोक्यं सचराचरं विजयते यस्य प्रसादादिदं,
योऽत्राऽमुत्र हितावहस्तनुभृतां सर्वार्थसिद्धिप्रदः ।
येनानर्थकदर्थना निजमहः सामर्थ्यतो व्यर्थिता,
तस्मै कारुणिकाय धर्मविभवे भक्तिप्रणामोऽस्तु मे ॥१३० ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अर्थ :- जिसकी कृपा से सचराचर रूप तीन जगत् (सदा) जयवन्त रहते हैं, जो प्राणियों के लिए इस लोक और परलोक की समृद्धि को लाने वाला है और जो अपने प्रभाव से अनेक अनर्थों की परम्पराओं को निष्फल बनाने वाला है, महाकरुणा-मय उस धर्मविभव को भक्तिपूर्वक मेरा प्रणाम हो ॥१३०॥

प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नन्दना नन्दनानां,
रम्यं रूपं सरसकविता-चातुरी सुस्वरत्वम् ।
नीरोगित्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः,
किं नु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य ॥ १३१ ॥

मन्दाक्रान्ता

अर्थ :- धर्म कल्पवृक्ष की फलपरिणति का हम क्या वर्णन करें ? उसके प्रभाव से विशाल राज्य, सौभाग्यवती पत्नी,

पुत्र–पौत्रादि, लोकप्रिय रूप, सुन्दर काव्य–रचना का चातुर्य, असाधारण सुन्दर वक्तृत्व, नीरोगता, गुण की पहचान, सज्जनत्व तथा सुन्दर बुद्धि आदि की प्राप्ति होती है ॥१३१॥

॥ दशम भावनाष्टकम् ॥

पालय पालय रे पालय मां जिनधर्म ।
मंगलकमलाकेलिनिकेतन, करुणाकेतन धीर ।
शिवसुखसाधन भवभयबाधन,
जगदाधार गम्भीर ॥ पालय० ॥ १३२ ॥

अर्थ :– हे जिनधर्म ! आप मेरा पालन करो, पालन करो, पालन करो ।

हे मंगललक्ष्मी की क्रीड़ा के स्थान रूप !

हे करुणा की ध्वजा स्वरूप !

हे धैर्यवान् !

हे शिवसुख के साधन !

हे भवभय के बाधक !

हे जगत् के आधारभूत !

हे गम्भीर जिनधर्म ! आप मेरा रक्षण करो ! रक्षण करो ! (ध्रुवपद) ॥१३२॥

सिञ्चति पयसा जलधरपटली, भूतलममृतमयेन ।
सूर्याचन्द्रमसावुदयेते, तव महिमातिशयेन ॥ पालय० ॥१३३॥

अर्थ :- आपकी महिमा के अतिशय से बादलों की श्रेणी अमृततुल्य जल से इस पृथ्वी का सिंचन करती है और सूर्य व चन्द्र भी उदय होते हैं ॥१३३॥

निरालम्बमियमसदाधारा, तिष्ठति वसुधा येन ।
तं विश्वस्थितिमूलस्तम्भं, त्वां सेवे विनयेन ॥ पालय० ॥१३४॥

अर्थ :- आपके प्रभाव से यह पृथ्वी बिना किसी आलम्बन के टिकी हुई है । इस प्रकार विश्वस्थिति के मूल स्तम्भ स्वरूप धर्म की मैं विनयपूर्वक सेवा करता हूँ ॥१३४॥

दानशीलशुभभावतपोमुख-चरितार्थीकृतलोकः ।
शरणस्मरणकृतामिह भविनां, दूरीकृतभयशोकः।पालय०।१३५।

अर्थ :- दान, शील, शुभ भाव और तप रूप मुख द्वारा जिसने इस जगत् को चरितार्थ किया है, शरण और स्मरण करने वाले भव्य प्राणियों के भय और शोक को जिसने दूर किया है (ऐसा यह जिनधर्म है ।) ॥१३५॥

क्षमा-सत्य-संतोष-दयादिक, सुभगसकलपरिवारः ।
देवासुरनरपूजित-शासन, कृत-बहुभवपरिहारः।पालय०। १३६।

अर्थ :- क्षमा, सत्य, सन्तोष और दयादि जिसका सुभग परिवार है, जो देव, असुर और मनुष्यों से पूजित है, ऐसा यह शासन (जिनशासन) अनेकों भवों का परिहार करने वाला है ॥१३६॥

बन्धुरबन्धुजनस्य दिवानिश-मसहायस्य सहायः ।
भ्राम्यति भीमे भवगहनेऽङ्गी,
त्वां बान्धवमपहाय ॥ पालय॰ ॥ १३७ ॥

अर्थ :- यह धर्म बन्धुरहित का बन्धु है और असहाय व्यक्ति के लिए सहायभूत है । आप जैसे बन्धु का त्याग करने वाले इस भीषण संसार में चारों ओर भटकते हैं ॥१३७॥

द्रङ्गति गहनं जलति कृशानुः, स्थलति जलधिरचिरेण ।
तव कृपयाखिलकामितसिद्धि-
र्बहुना किं नु परेण ? ॥ पालय॰ ॥ १३८ ॥

अर्थ :- (हे जिनधर्म ! आपकी कृपा से) गहन जंगल नगर बन जाते हैं, अग्नि जल बन जाती है और भयंकर सागर भी पृथ्वी में बदल जाता है । आपकी कृपा से सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं । अतः अब दूसरों से क्या ? ॥१३८॥

इह यच्छसि सुखमुदितदशाङ्गं, प्रेत्येन्द्रादि-पदानि ।
क्रमतो ज्ञानादीनि च वितरसि,
निःश्रेयस-सुखदानि ॥ पालय॰ ॥ १३९ ॥

अर्थ :- (हे जिनधर्म !) इस लोक में आप दसों प्रकार से वृद्धिगत सुख प्रदान करते हो । परलोक में इन्द्र आदि के महान् पद प्रदान करते हो और अनुक्रम से मोक्षसुख प्रदान करने वाले ज्ञानादि भी प्रदान करते हो ॥१३९॥

सर्वतन्त्र-नवनीत-सनातन, सिद्धिसदनसोपान ।
जय जय विनयवतां प्रतिलम्भित-
शान्तसुधारसपान ॥ पालय० ॥ १४० ॥

अर्थ :- हे सर्वतन्त्रों में नवनीत समान !

हे सनातन !

हे मुक्ति मंजिल के सोपान !

हे विनयजनों को प्राप्त शान्त अमृतरस के पान !

(हे जिनधर्म) आपकी जय हो ! जय हो !! ॥१४०॥

११. लोकस्वरूप भावना

सप्ताऽधोऽधो विस्तृता याः पृथिव्य-
श्छत्राकाराः सन्ति रत्नप्रभाद्याः ।
ताभिः पूर्णो योऽस्त्यधोलोक एतौ,
पादौ यस्य व्यायतौ सप्तरज्जू: ॥ १४१ ॥ शालिनी

अर्थ :- नीचे-नीचे विस्तार पाने वाली, छत्र के आकार वाली रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वियाँ हैं और उनसे परिपूर्ण सात राजलोकप्रमाण अधोलोक है; जो इस लोक-पुरुष के दो पैर समान हैं ॥१४१॥

तिर्यग्लोको विस्तृतो रज्जूमेकां, पूर्णो द्वीपैरर्णवान्तैरसंख्यैः ।
यस्य ज्योतिश्चक्रकाञ्चीकलापं,
मध्ये कार्श्यं श्रीविचित्रं कटित्रम् ॥ १४२ ॥

अर्थ :- असंख्य द्वीप-समुद्रों से परिपूर्ण एक राजलोक विस्तार वाला तिर्च्छालोक है, जिसमें ज्योतिषचक्र लोकपुरुष के कटिप्रदेश पर सुशोभित मेखला के समान है ॥१४२॥

लोकोऽथोर्ध्वे ब्रह्मलोके द्युलोके, यस्य व्याप्तौ कूर्परौ पञ्चरज्जू।
लोकस्याऽन्तो विस्तृतो रज्जूमेकां,
सिद्धज्योतिश्चित्रको यस्य मौलिः ॥ १४३ ॥

अर्थ :- उसके ऊपर ब्रह्मदेवलोक तक पाँच राजलोक-प्रमाण का भाग लोकपुरुष के विस्तृत दो हाथों की कोहनी समान है तथा एक राजलोक प्रमाण विस्तृत लोक के अन्त भाग में सिद्धशिला के प्रकाश से सुशोभित उसका मुकुट है ॥१४३॥

यो वैशाखस्थानकस्थायिपादः, श्रोणीदेशे न्यस्त-हस्त-द्वयश्च ।
कालेऽनादौ शश्वदूर्ध्वंमत्वाद्,
बिभ्राणोऽपि श्रान्तमुद्रामखिन्नः ॥ १४४ ॥

अर्थ :- लोकपुरुष की स्थिति इस प्रकार है-वह समान रूप से फैलाए हुए पैर वाला, जिसके दोनों हाथ कटिप्रदेश पर टिके हुए हैं और अनादिकाल से जो ऊर्ध्वमुख किए, श्रान्त मुद्रा को धारण करके अखिन्न रूप से खड़ा है ॥१४४॥

सोऽयं ज्ञेयः पूरुषो लोकनामा,
षड्द्रव्यात्माऽकृत्रिमोऽनाद्यनन्तः ।
धर्माधर्माकाशकालात्मसंज्ञै-
र्द्रव्यैः पूर्णः सर्वतः पुद्गलैश्च ॥ १४५ ॥

अर्थ :- यह लोक-नामधारी '**लोक पुरुष**' षड्द्रव्यात्मक, अनादि-अनन्त स्थिति वाला तथा अकृत्रिम है और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय से पूर्ण रूप से व्याप्त है ॥१४५॥

रङ्गस्थानं पुद्गलानां नटानां, नानारूपैर्नृत्यतामात्मनां च ।
कालोद्योगस्व-स्वभावादिभावैः,
कर्मातोद्यैर्नर्तितानां नियत्या ॥१४६॥

अर्थ :- नियति, काल, उद्यम और स्वभाव आदि भावों से तथा कर्मरूपी वाद्य यंत्र की सहायता से अनेक रूपधारी नट की तरह जीव और पुद्गलों की यह रंगभूमि है ॥१४६॥

एवं लोको भाव्यमानो विविक्त्या,
विज्ञानां स्यान्मानसस्थैर्यहेतुः ।
स्थैर्यं प्राप्ते मानसे चात्मनीना-
सुप्राप्यैवाऽऽध्यात्मसौख्य-प्रसूतिः ॥ १४७ ॥

अर्थ :- इस प्रकार विवेक से लोक स्वरूप-का विचार बुद्धिमान् पुरुष के चित्त की स्थिरता में सहायक होता है। इस प्रकार चित्त को स्थिर करने से आत्महित होता है और अध्यात्मसुख सुलभ बनता है ॥१४७॥

विनय ! विभावय शाश्वतं, हृदि लोकाकाशम् ।
सकलचराचरधारणे, परिणमदवकाशम् ॥ विनय० ॥ १४८ ॥

अर्थ :- हे विनय ! तू अपने हृदय में शाश्वत लोकाकाश के स्वरूप का विचार कर, जिसमें सकल चराचर पदार्थों को धारण करने का सामर्थ्य है ॥१४८॥

लसदलोकपरिवेष्टितं, गणनातिगमानम् ।
पञ्चभिरपि धर्मादिभिः, सुघटितसीमानम् ॥ विनय० ॥ १४९ ॥

अर्थ :- यह लोकाकाश अगणित (असंख्य) योजन प्रमाण वाला है और चारों ओर अलोक से घिरा हुआ है । धर्मास्तिकाय आदि पंचास्तिकाय से इसकी मर्यादा नियत बनी हुई है ॥१४९॥

समवघातसमये जिनैः, परिपूरितदेहम् ।
असुमदणुकविविध-क्रिया-, गुणगौरवगेहम् ॥ विनय०॥१५०॥

अर्थ :- केवली भगवन्त केवली समुद्घात के समय अपने आत्मप्रदेशों से समस्त लोकाकाश को भर देते हैं, यह जीव और पुद्गल की विविध क्रिया के गुण-गौरव का स्थान है ॥१५०॥

एकरूपमपि पुद्गलैः, कृतविविधविवर्तम् ।
काञ्चन शैलशिखरोन्नतं, क्वचिदवनतगर्तम् ॥विनय०॥ १५१ ॥

अर्थ :- यह लोकाकाश एकस्वरूपी होते हुए भी इसमें पुद्गलों के द्वारा विविधता की हुई है। कहीं स्वर्ण के शिखर वाला उन्नत मेरुपर्वत है तो कहीं अत्यन्त भयंकर गड्ढे भी हैं ॥१५१॥

क्वचन तविषमणिमन्दिरै-रुदितोदितरूपम् ।
घोरतिमिरनरकादिभिः, क्वचनातिविरूपम् ॥विनय०॥१५२॥

अर्थ :- कुछ स्थल देवताओं के मणिमय मन्दिरों से सुशोभित है तो कुछ स्थल महाअन्धकारमय नरकादि से भी अति भयंकर हैं ॥१५२॥

क्वचिदुत्सवमयमुज्ज्वलं, जयमङ्गलनादम् ।
क्वचिदमन्द हाहारवं, पृथुशोक-विषादम् ॥विनय०॥ १५३ ॥

अर्थ :- कहीं जय-जयकार के मंगल नाद से व्याप्त उत्सवमय उज्ज्वलता है तो कहीं भयंकर शोक और विषादयुक्त हाहाकारमय वातावरण है ॥१५३॥

बहुपरिचितमनन्तशो, निखिलैरपि सत्त्वैः ।
जन्ममरणपरिवर्तिभिः, कृतमुक्तममत्वैः ॥ विनय० ॥ १५४ ॥

अर्थ :- जन्म-मरण के चक्र में अनन्त बार भ्रमण करने वाले ममता से युक्त जीवों के द्वारा यह (लोक) अत्यन्त परिचित है ॥१५४॥

इह पर्यटनपराङ्मुखाः, प्रणमत भगवन्तम् ।
शान्तसुधारसपानतो, धृतविनयमवन्तम् ॥ विनय० ॥ १५५ ॥

अर्थ :- इस लोकाकाश में पर्यटन करने से श्रान्त बनी हे भव्यात्माओ ! आप विनय से युक्त बनकर **शान्त सुधारस** का पानकर शरणदाता प्रभु को प्रणाम करो ॥१५५॥

१२. बोधिदुर्लभ भावना

यस्माद् विस्मापयितसुमनः-स्वर्गसंपद्विलासाः,
प्राप्तोल्लासाः पुनरपि जनिः सत्कुले भूरिभोगे ।
ब्रह्माद्वैत-प्रगुणपदवीप्रापकं निःसपत्नं,
तद्दुष्प्रापं भृशमुरुधियः सेव्यतां बोधिरत्नम् ॥१५६॥ मंदाक्रांता

अर्थ :- हे सुक्ष्मबुद्धिमान् पुरुषो ! जिस सम्यक्त्व के प्रभाव से देवताओं को भी आश्चर्य हो, ऐसी स्वर्ग सम्पदा का विलास प्राप्त होता है और उस स्वर्ग सम्पत्ति की प्राप्ति से उल्लसित बने प्राणी पुनः विशाल भोगकुल में जन्म पाते हैं, ऐसे असाधारण और परमपद को देने वाले बोधिरत्न की सेवा करो ॥१५६॥

अनादौ निगोदान्धकूपे स्थिताना-
मजस्रं जनुर्मृत्युदुःखार्दितानाम् ।
परीणामशुद्धिः कुतस्तादृशी स्याद्,
यया हन्त तस्माद् विनिर्यान्ति जीवाः ॥ १५७ ॥ भुजंगप्रयातम्

अर्थ :- अनादिकाल से निगोद रूपी अन्धकूप में रहने वाले और जन्म-मरण के दुःख से सतत सन्तप्त जीवों को उस परिणाम की शुद्धि कहाँ से हो, जिससे वे निगोद के अन्धकूप से बाहर निकल सकें ॥१५७॥

ततो निर्गतानामपि स्थावरत्वात्, त्रसत्वं पुनर्दुर्लभं देहभाजाम् ।
त्रसत्वेऽपि पञ्चाक्षपर्याप्तसंज्ञि-
स्थिरायुष्यवद् दुर्लभं मानुषत्वम् ॥ १५८ ॥ भुजंगप्रयातम्

अर्थ :- निगोद में से निकले हुए जीव स्थावर अवस्था को प्राप्त करते हैं, क्योंकि प्राणी को त्रसत्व की प्राप्ति तो अत्यन्त दुर्लभ है। उस त्रसत्व की प्राप्ति के बाद भी पञ्चेन्द्रिय अवस्था, संज्ञित्व, दीर्घ आयुष्य तथा मनुष्य की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है ॥१५८॥

तदेतन्मनुष्यत्वमाप्यापि मूढो, महामोहमिथ्यात्वमायोपगूढः ।
भ्रमन् दूरमग्नो भवागाधगर्ते,
पुनः क्व प्रपद्येत तद्बोधिरत्नम् ? ॥ १५९ ॥ भुजंगप्रयातम्

अर्थ :- मनुष्य अवस्था पाने के बाद भी महामोह मिथ्यात्व और माया से व्याप्त मूढ़ प्राणी संसार रूपी महागर्त में पड़ा हुआ, ऐसा निमग्न हो जाता है कि उसे बोधिरत्न की प्राप्ति भी कहाँ से हो ॥१५९॥

विभिन्नाः पन्थानः प्रतिपदमनल्पाश्च मतिनः,
कुयुक्तिव्यासङ्गैर्निजनिजमतोल्लासरसिकाः ।
न देवाः सान्निध्यं विदधति न वा कोऽप्यतिशय-
स्तदेवं कालेऽस्मिन् य इह दृढधर्मा स सुकृती ॥ १६० ॥
शिखरिणी

अर्थ :- इस काल में जहाँ स्थान-स्थान पर विविध मत वाले पंथ हैं, कदम-कदम पर कुयुक्ति के अभ्यास से स्वमत को विकसित करने में रसिक अनेक मतवादी हैं, देवता भी सहाय नहीं कर रहे हैं तथा न कोई अतिशय लब्धि-सम्पन्न व्यक्ति नजर आ रहा है, ऐसे समय में वीतराग धर्म में दृढ़ता रखने वाला ही सच्चा पुण्यात्मा है ॥१६०॥

यावद् देहमिदं गदैर्न मृदितं, नो वा जरा जर्जरं,
यावत्त्वक्षकदम्बकं स्वविषयज्ञानावगाहक्षमम् ।
यावच्चायुरभङ्गुरं निजहिते तावद्बुधैर्यत्यतां,
कासारे स्फुटिते जले प्रचलिते पालिः कथं बध्यते ॥ १६१ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

अर्थ :- जब तक यह देह रोग-ग्रस्त नहीं हुआ है, जब तक यह देह जरा से जर्जरित नहीं हुआ है, जब तक इन्द्रियाँ स्व-स्व विषय सम्बन्धी ज्ञान को ग्रहण करने में समर्थ हैं तथा जब तक आयुष्य शेष है, तब तक सुज्ञजनों को आत्महित में उद्यम कर लेना चाहिए, फिर सरोवर के टूट जाने के बाद दीवार बाँधने से क्या फायदा है ? ॥१६१॥

विविधोपद्रवं देहमायुश्च क्षणभङ्गुरम् ।
कामालम्ब्य धृतिं मूढैः स्वश्रेयसि विलम्ब्यते ॥१६२॥ अनुष्टुप्

अर्थ :- यह देह रोगादि उपद्रवों से भरा हुआ है, आयुष्य क्षणभंगुर है, तो फिर किस वस्तु का आलम्बन लेकर मूढ़ जन अपने आत्म-हित में विलम्ब करते हैं ? ॥१६२॥

बुध्यतां बुध्यतां बोधिरतिदुर्लभा,
जलधिजलपतितसुररत्नयुक्त्या ।
सम्यगाराध्यतां स्वहितमिह साध्यतां,
बाध्यतामधरगतिरात्मशक्त्या ॥ बुध्य° ॥ १६३ ॥

अर्थ :- समुद्र में गिर पड़े चिन्तामणि रत्न के दृष्टान्त से बोधि की अत्यन्त दुर्लभता को समझो । बोधिरत्न की दुर्लभता को समझकर उसका सम्यग् आराधन करो, आत्महित साधो और अपनी आत्म-शक्ति से दुर्गति को रोक दो ॥१६३॥

चक्रिभोज्यादिरिव नरभवो दुर्लभो, भ्राम्यतां घोरसंसारकक्षे ।
बहुनिगोदादिकायस्थितिव्यायते,
मोहमिथ्यात्वमुखचोरलक्षे ॥ बुध्य° ॥ १६४ ॥

अर्थ :- निगोद आदि की दीर्घकाल स्थिति तथा मोह और मिथ्यात्व आदि लाखों चोरों से व्याप्त इस भयंकर संसार-कक्ष में चक्रवर्त्ती के भोजन के दृष्टान्त से मनुष्य-भव की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है ॥१६४॥

लब्ध इह नरभवोऽनार्यदेशेषु यः, स भवति प्रत्युतानर्थकारी ।
जीवहिंसादिपापास्त्रवव्यसनिनां,
माघवत्यादिमार्गानुसारी ॥ बुध्य° ॥ १६५ ॥

अर्थ :- उसके बाद मनुष्य का जन्म भी यदि अनार्य देश में हो जाय तो वह ज्यादा अनर्थकारी बन जाता है, क्योंकि वहाँ

जीवहिंसा आदि पापों के आस्रव में लगे रहने से वह जन्म माघवती (सातवीं नरकभूमि) के मार्ग में ले जाने वाला है ॥१६५॥

आर्यदेशस्पृशामपि सुकुलजन्मनां,
दुर्लभा विविदिषा धर्मतत्त्वे ।
रतपरिग्रहभयाहारसंज्ञार्तिभि-
र्हन्त ! मग्नं जगद् दुःस्थितत्वे ॥ बुध्य० ॥ १६६ ॥

अर्थ :- आर्यदेश में रहने वाले और उत्तम कुल में जन्म लेने के बाद भी सद्धर्म-श्रवण की इच्छा होना अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि मैथुन, परिग्रह, भय और आहार संज्ञारूप पीड़ा से सम्पूर्ण जगत् अत्यन्त दुर्दशा में डूबा हुआ है ॥१६६॥

विविदिषायामपि श्रवणमतिदुर्लभं,
धर्मशास्त्रस्य गुरुसन्निधाने ।
वितथविकथादितत्तद्रसावेशतो,
विविधविक्षेपमलिनेऽवधाने ॥ बुध्य० ॥ १६७ ॥

अर्थ :- सद्धर्म की जिज्ञासा होने के बाद भी व्यर्थ ही विकथा आदि के रस से अनेक प्रकार के विक्षेपों से मन के मलिन होने से सद्गुरु के सान्निध्य में धर्मशास्त्र का श्रवण अत्यन्त दुर्लभ है ॥१६७॥

धर्ममाकर्ण्य संबुध्य तत्रोद्यमं, कुर्वतो वैरिवर्गोऽन्तरङ्गः ।
रागद्वेषश्रमालस्यनिद्रादिको,
बाधते निहतसुकृतप्रसङ्गः ॥ बुध्य० ॥ १६८ ॥

अर्थ :– धर्म का श्रवण करने के बाद धर्म में अच्छी तरह से उद्यम करने वाले को भी अन्तरंग–शत्रुवर्ग तथा राग, द्वेष, आलस्य और निद्रा आदि बाधा पहुँचाते रहते हैं तथा सुकृत के प्रसंग को नष्ट कर देते हैं ॥१६८॥

चतुरशीतावहो योनिलक्षेष्वियं,
क्व त्वयाकर्णिता धर्मवार्ता ।
प्रायशो जगति जनता मिथो विवदते,
ऋद्धिरसशातगुरुगौरवार्त्ता ॥ बुध्य० ॥ १६९ ॥

अर्थ :– अहो आत्मन् ! चौरासी लाख जीवयोनि में भ्रमण करते हुए तूने धर्म की वार्ता कहाँ सुनी है ? अधिकांशतः जगत् के प्राणी ऋद्धिगारव, रसगारव और शातगारव से पीड़ित होकर परस्पर विवाद करते रहते हैं ॥१६९॥

एवमतिदुर्लभात् प्राप्य दुर्लभतमं,
बोधिरत्नं सकलगुणनिधानम् ।
कुरु गुरुप्राज्यविनयप्रसादोदितम्,
शान्तरससरसपीयूषपानम् ॥ बुध्य० ॥ १७० ॥

अर्थ :– इस प्रकार अत्यन्त दुर्लभ, सकल गुण के आधार रूप और जो श्रेष्ठ विनय गुण के प्रसाद रूप में प्राप्त हुआ है, ऐसे बोधिरत्न का उपयोग करो और शान्तरस रूप अमृतरस का पान करो ॥१७०॥

१३. मैत्री भावना

सद्धर्मध्यानसंधान-हेतवः श्रीजिनेश्वरैः ।
मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ताश्चतस्त्रो भावनाः पराः ॥ १७१ ॥ अनुष्टुप्

अर्थ :- सद्धर्म-ध्यान में अच्छी तरह से जुड़ने के लिए श्री जिनेश्वरदेवों ने मैत्री प्रमुख चार श्रेष्ठ भावनाएँ कही हैं ॥१७१॥

मैत्री-प्रमोदकारुण्य-माध्यस्थानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ॥ १७२ ॥ अनुष्टुप्

अर्थ :- मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ ये चार भावनाएँ धर्मध्यान को स्थिर करने के लिए सर्वदा सेवन करने योग्य हैं, क्योंकि यह वास्तविक रसायन है ॥१७२॥

मैत्री परेषां हितचिन्तनं यत्, भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः ।
कारुण्यमार्ताऽङ्गिरुजां जिहीर्षे-त्युपेक्षणं दुष्टधियामुपेक्षा।१७३।
उपजाति

अर्थ :- अन्य जीवों का हित-चिन्तन मैत्री भावना है, गुण का पक्ष करना प्रमोद भावना है, दुःखी प्राणियों के दुःख को दूर करने की इच्छा करुणा भावना है और दुष्ट बुद्धि वाले जीवों पर राग-द्वेष रहित होकर रहना माध्यस्थ भावना है ॥१७३॥

सर्वत्र मैत्रीमुपकल्पयात्मन् !,
चिन्त्यो जगत्यत्र न कोऽपि शत्रुः ।
कियद्दिनस्थायिनि जीवितेऽस्मिन्,
किं खिद्यते वैरिधिया परस्मिन् ॥ १७४ ॥

अर्थ :- हे आत्मन् ! सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव धारण करो । इस जगत् में किसी को शत्रु न मानो । इस जीवन में कितने दिन रहना है ? अन्य के ऊपर शत्रुबुद्धि करके व्यर्थ ही क्यों खेद पाते हो ? ॥१७४॥

सर्वेऽप्यमी बन्धुतयाऽनुभूताः,
सहस्त्रशोऽस्मिन् भवता भवाब्धौ ।
जीवास्ततो बन्धव एव सर्वे,
न कोऽपि ते शत्रुरिति प्रतीहि ॥ १७५ ॥ उपजाति

अर्थ :- इस संसार रूपी सागर में ये सभी जीव हजारों बार बन्धु रूप से अनुभव किए हुए हैं, अतः ये सभी तुम्हारे बन्धु हैं । कोई भी जीव तुम्हारा शत्रु नहीं है, इस बात का मन में निश्चय करो ॥१७५॥

सर्वे पितृ-भ्रातृ-पितृव्य-मातृ-पुत्राङ्गजास्त्रीभगिनीस्नुषात्वम् ।
जीवाः प्रपन्ना बहुशस्तदेतत्, कुटुम्बमेवेति परो न कश्चित्। १७६।

अर्थ :- (इस संसार में) ये सभी जीव पिता, भ्राता, चाचा, माता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, बहन तथा पुत्रवधू के रूप में

बहुत बार प्राप्त हुए हैं अतः यह सब तुम्हारा ही कुटुम्ब है, पराया या दुश्मन नहीं है ॥१७६॥

एकेन्द्रियाद्या अपि हन्त जीवाः, पंचेन्द्रियत्वाद्यधिगम्य सम्यक् ।
बोधिं समाराध्य कदा लभन्ते,
भूयो भवभ्रान्तिभियां विरामम् ॥ १७७ ॥

अर्थ :- एकेन्द्रिय आदि जीव भी पंचेन्द्रिय आदि विशिष्ट सामग्री को प्राप्त कर बोधिरत्न की आराधना कर भवभ्रमण के भय से कब विराम पाएंगे ? ॥१७७॥

या रागरोषादिरुजो जनानां, शाम्यन्तु वाक्काय-मनोद्रुहस्ताः ।
सर्वेऽप्युदासीनरसं रसन्तु, सर्वत्र सर्वे सुखिनो भवन्तु॥१७८॥

अर्थ :- सभी प्राणियों के मन, वचन और काया को दुःख देनेवाले राग-द्वेष आदि सभी रोग शान्त हो जायें । सभी जीव समतारस का पान करें और सभी जीव सर्वत्र सुखी बनें ॥१७८॥

॥ १३ भावनाष्टकम् ॥

विनय विचिन्तय मित्रतां, त्रिजगति जनतासु ।
कर्मविचित्रतया गतिं, विविधां गमितासु ॥ विनय० ॥ १७९ ॥

अर्थ :- हे विनय ! कर्म की विचित्रता से विविध गतियों में जाने वाले त्रिजगत् के प्राणियों के विषय में मैत्री का चिन्तन कर ॥१७९॥

सर्वे ते प्रियबान्धवाः, नहि रिपुरिह कोऽपि ।
मा कुरु कलिकलुषं मनो, निजसुकृतविलोपि ॥विनय॰॥१८०॥

अर्थ :- ये सभी तुम्हारे प्रिय बन्धु हैं, इनमें कोई तुम्हारा दुश्मन नहीं है । कलह से कलुषित मन सुकृत का लोप करने वाला होता है (अतः अपने मन को कलुषित मत करो) ॥१८०॥

यदि कोपं कुरुते परो, निजकर्मवशेन ।
अपि भवता किं भूयते, हृदि रोषवशेन । विनय॰ ॥ १८१ ॥

अर्थ :- यदि कोई अपने कर्म के वशीभूत होकर क्रोध करता है, तो तुम हृदय में क्रोध के वशीभूत क्यों बनते हो ? ॥१८१॥

अनुचितमिह कलहं सतां, त्यज समरसमीन ।
भज विवेककलहंसतां, गुणपरिचयपीन ॥ विनय॰ ॥ १८२ ॥

अर्थ :- हे समत्वरस के मीन ! सज्जनों के लिए कलह अनुचित है, अतः तू उसका त्याग कर । सद्गुण के परिचय से पुष्ट बने हुए हे चेतन ! विवेकरूपी कलारूप हंसता को भज । (अर्थात् हंस की तरह विवेकी बन) ॥१८२॥

शत्रुजनाः सुखिनः समे, मत्सरमपहाय ।
सन्तु गन्तुमनसोऽप्यमी, शिव-सौख्यगृहाय । विनय॰ ॥१८३॥

अर्थ :- मत्सर भाव का त्यागकर सभी शत्रुजन भी सुखी बनें और शिवसुख के गृहरूप मुक्ति-पद की प्राप्ति के इच्छुक बनें ॥१८३॥

सकृदपि यदि समतालवं, हृदयेन लिहन्ति ।
विदितरसास्तत इह रतिं, स्वत एव वहन्ति ।।विनय०।। १८४ ।।

अर्थ :- एक बार भी प्राणी यदि समता के सुख का आस्वादन कर लेता है, तो फिर उस सुख को जानने के बाद स्वतः समत्वरस की प्रीति पैदा होती है ।।१८४।।

किमुत कुमतमदमूर्च्छिताः, दुरितेषु पतन्ति ।
जिनवचनानि कथं हहा, न रसादुपयन्ति ।। विनय० ।। १८५ ।।

अर्थ :- कुमत रूपी मद से मूर्च्छित बनकर (प्राणी) दुर्गति के गर्त में क्यों पड़ते हैं ? वे जिनवचन रूप अमृत रस का प्रेम से पान क्यों नहीं करते हैं ? ।।१८५।।

परमात्मनि विमलात्मना, परिणम्य वसन्तु ।
विनय समामृतपानतो, जनता विलसन्तु ।। विनय० ।। १८६ ।।

अर्थ :- हे विनय ! (तू यह चिन्तन कर) निर्मल आशय वाले जीवों के मन परमात्म-स्वरूप में मग्न बनें तथा जगत् के प्राणी समता रूपी अमृतरस का पानकर सदा सुखी बनें ।।१८६।।

१४. प्रमोद भावना

धन्यास्ते वीतरागाः क्षपकपथगतिक्षीणकर्मोपरागा-
स्त्रैलोक्ये गन्धनागाः सहजसमुदितज्ञानजाग्रद्विरागाः ।
अध्यारुह्यात्मशुद्ध्या सकलशशिकलानिर्मलध्यानधारा-
मारान्मुक्तेः प्रपन्नाः कृतसुकृतशतोपार्जितार्हन्त्यलक्ष्मीम् ।१८७।

स्त्रग्धरावृत्तम्

अर्थ :- क्षपकश्रेणि के द्वारा जिन्होंने कर्म-शत्रुओं को नष्ट कर दिया है, साहजिक और निरन्तर उदय प्राप्त ज्ञान से जागृत वैराग्यवन्त होने से त्रिलोक में जो गन्धहस्ती के समान हैं, ऐसे वीतराग परमात्मा, जो अपनी आत्मशुद्धि से चन्द्रकला के समान निर्मल ध्यान धारा पर आरूढ़ होकर, पूर्वकृत सुकृतों से उपार्जित तीर्थंकर पदवी को प्राप्तकर मोक्ष के निकट जा रहे हैं, वे धन्य हैं ॥१८७॥

तेषां कर्मक्षयोत्थैरतनु-गुणगणैर्निर्मलात्मस्वभावै-
र्गायं गायं पुनीमः स्तवनपरिणतैरष्टवर्णास्पदानि ।
धन्यां मन्ये रसज्ञां जगति भगवतस्तोत्रवाणीरसज्ञा-
मज्ञां मन्ये तदन्यां वितथजनकथां कार्यमौखर्यमग्नाम्॥१८८॥

स्त्रग्धरावृत्तम्

अर्थ :- कर्मक्षय से उत्पन्न अनेक गुणों के समूह वाले, निर्मल आत्म-स्वभाव द्वारा परमात्मा की स्तवना में तल्लीन परिणति के द्वारा बारम्बार प्रभु का गुणगान करके, आठ वर्ण के उच्चार स्थानों को हम पवित्र करते हैं तथा जगत् में भगवन्त के स्तोत्र वाणी के रस को जानने वाली जीभ को मैं रसज्ञा (जीभ) कहता हूँ, शेष लोककथा के कार्य में वाचाल बनी जीभ को मैं जड़ ही समझता हूँ ॥१८८॥

निर्ग्रन्थास्तेऽपि धन्या गिरिगहनगुहागह्वरान्तर्निविष्टा-
धर्मध्यानावधानाः समरससुहिताः पक्षमासोपवासाः ।
येऽन्येऽपि ज्ञानवन्तः श्रुतविततधियो दत्तधर्मोपदेशाः,
शान्ता दान्ता जिताक्षा जगति जिनपतेः शासनं भासयन्ति।१८९।

स्त्रग्धरावृत्तम्

अर्थ :- पर्वत, जंगल, गुफा तथा निकुंज में रहते हुए धर्मध्यान में दत्तचित्त रहने वाले, शमरस से सन्तुष्ट, पक्ष और मास (क्षमण) जैसे विशिष्ट तप करने वाले (महामुनियों को) तथा श्रुतज्ञान से विशाल बुद्धि वाले, उपदेशक, शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय बनकर जो प्रभु-शासन की प्रभावना करते हैं, उन निर्ग्रन्थ मुनियों को भी धन्य है ॥१८९॥

दानं शीलं तपो ये विदधति गृहिणो भावनां भावयन्ति,
धर्मं धन्याश्चतुर्धा श्रुतसमुपचितश्रद्धयाऽऽराधयन्ति ।

साध्व्यः श्राद्धयश्च धन्याः श्रुतविशदधिय शीलमुद्भावयन्त्य-
स्तान् सर्वान् मुक्तगर्वाः
प्रतिदिनमसकृद् भाग्यभाजः स्तुवन्ति ॥१९०॥ स्त्रग्धरावृतम्

अर्थ :- जो सुश्रावक दान, शील और तप का आसेवन करते हैं और सुन्दर भावना का भावन करते हैं, इस प्रकार ज्ञान से पुष्ट श्रद्धा से चारों प्रकार के धर्म की आराधना करते हैं, तथा जो साध्वीगण और श्राविकाएँ ज्ञान से निर्मल बुद्धि द्वारा शील/सदाचार का पालन करती हैं, वे भी धन्यवाद की पात्र हैं। इन सबकी हमेशा अनेक बार जो गर्वरहित भाग्यवन्त स्तुति करते हैं, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं ॥१९०॥

मिथ्यादृशामप्युपकारसारं, संतोष-सत्यादि-गुणप्रसारम् ।
वदान्यता वैनयिकप्रकारं, मार्गानुसारीत्यनुमोदयामः ॥१९१॥
उपजातिवृतम्

अर्थ :- मिथ्यादृष्टि के भी परोपकारप्रधान संतोष-सत्य आदि गुणसमूह तथा उदारता-विनयवृत्ति आदि मार्गानुसारी गुणों की हम अनुमोदना करते हैं ॥१९१॥

जिह्वे ! प्रह्वीभव त्वं सुकृतिसुचरितोच्चारणे सुप्रसन्ना,
भूयास्तामन्यकीर्तिश्रुतिरसिकतया मेऽद्य कर्णौ सुकर्णौ ।
वीक्ष्याऽन्यप्रौढलक्ष्मीं द्रुतमुपचिनुतां लोचने रोचनत्वं,
संसारेऽस्मिन्नसारे फलमिति भवतां जन्मनो-मुख्यमेव ॥ ६ ॥
स्त्रग्धरावृत्तम्

अर्थ :- हे जिह्वा ! सत्कर्म करने वाले पुरुषों के सुचरित्र के उच्चारण करने में प्रसन्न होकर सरल बन । अन्य पुरुषों की कीर्ति-यश के श्रवण करने में रसिक होने से मेरे दोनों कान सुकर्ण बनें । अन्यजनों की प्रौढ़ संपत्ति को देखकर मेरी दोनों आँखें प्रसन्न बनें इस असार संसार में आपके जन्म का यही मुख्य फल है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१९२॥

प्रमोदमासाद्य गुणैः परेषां, येषां मतिर्मज्जति साम्यसिन्धौ ।
देदीप्यते तेषु मनःप्रसादो, गुणास्तथैते विशदीभवन्ति॥१९३॥

उपजातिवृतम्

अर्थ :- अन्य पुरुषों के सुयोग्य गुणों से प्रमोद पाकर जिनकी बुद्धि समतारूपी समुद्र में मग्न बनी है, उनमें मनःप्रसन्नता उल्लसित बनती है । गुणों की प्रशंसा से वे गुण अपने जीवन में भी विकास पाते हैं ॥१९३॥

॥ १४ भावनाष्टकम् ॥

विनय ! विभावय गुणपरितोषं,
विनय ! विभावय गुणपरितोषं ।
निज-सुकृताप्तवरेषु परेषु,
परिहर दूरं मत्सरदोषम् । विनय० ॥ १९४ ॥

अर्थ :- हे विनय ! गुणों के द्वारा तू आनन्द/परितोष को धारण कर और अपने सुकृत के बल से जिन्हें श्रेष्ठ वस्तुएँ प्राप्त

हुई हैं, ऐसे अन्य पुण्यवन्त प्राणियों के प्रति द्वेषभाव मत कर। मत्सर भाव का त्याग कर ॥१९४॥

दिष्ट्याऽयं वितरति बहुदानं, वरमयमिह लभते बहुमानम्।
किमिति न विमृशसि परपरभागं,
यद्विभजसि तत्सुकृतविभागम् । विनय० ॥ १९५ ॥

अर्थ :– कोई पुण्यशाली व्यक्ति बहुत दान देता है, तो कोई भाग्यशाली बहुत मान पाता है। '**यह सब अच्छा है।**' तू दूसरे के उज्ज्वल भाग को क्यों नहीं देखता है ? इस प्रकार सुन्दर विचार करने से उसके सुकृत का भाग तुझे भी प्राप्त हो जाएगा ॥१९५॥

येषां मन इह विगतविकारं, ये विदधति भुवि जगदुपकारम्।
तेषां वयमुचिताचरितानां,
नाम जपामो वारंवारम्। विनय० ॥ १९६ ॥

अर्थ :– जिनका मन यहाँ विकाररहित है, तथा जो सर्वत्र उपकार कर रहे हैं, ऐसे उचित आचरण करने वाले सत्पुरुषों का नामस्मरण हम बारम्बार करते हैं ॥१९६॥

अहह तितिक्षागुणमसमानं, पश्यत भगवति मुक्तिनिदानम्।
येन रुषा सह लसदभिमानं,
झटिति विघटते कर्मवितानम्। विनय० ॥ १९७ ॥

अर्थ :– अहो ! भगवन्त (महावीर परमात्मा) में शिव–सुख के कारण रूप क्षमा गुण कितना अपूर्व कोटि का था,

जिसके देखने पर, रोष सहित बड़े अभिमान पूर्वक संचित कर्मसमूह शीघ्र अदृश्य हो जाते हैं ॥१९७॥

अदधुः केचन शीलमुदारं, गृहिणोऽपि हि परिहृतपरदारम् ।
यश इह संप्रत्यपि शुचि तेषां,
विलसति फलिताफलसहकारम् । विनय० ॥ १९८ ॥

अर्थ :- ऐसे अनेक सद्गृहस्थ हैं, जिन्होंने परस्त्री का सर्वथा त्यागकर उदार शीलव्रत धारण किया है, उनका निर्मल यश आज भी इस जगत् में फले-फूले आम्रवृक्ष की तरह विलसित हो रहा है ॥१९८॥

या वनिता अपि यशसा साकं,
कुलयुगलं विदधति सुपताकम् ।
तासां सुचरितसञ्चितराकं,
दर्शनमपि कृतसुकृतविपाकम् । विनय० ॥ १९९ ॥

अर्थ :- वे स्त्रियाँ भी निर्मल यश सहित अपने उभय कुल को सुशोभित करती हैं, सुचरित्र से सम्पूर्ण चन्द्रकला के समान उनका निर्मल दर्शन भी पूर्वकृत सुकृत के योग से ही होता है ॥१९९॥

तात्त्विक-सात्त्विक-सुजनवतंसाः, केचन युक्तिविवेचनहंसाः ।
अलमकृषत किल भुवनाभोगं,
स्मरणममीषां कृतशुभयोगम् । विनय० ॥ २०० ॥

अर्थ :- कई तात्त्विक, सात्त्विक, सज्जन शिरोमणि पुरुष हैं तथा युक्तिपुरःसर विवेचन करने में हंस सदृश लोग हैं, उन दोनों से समस्त जगत् अलंकृत बना है ॥२००॥

इति परगुणपरिभावनसारं,
सफलय सततं निजमवतारम् ।
कुरु सुविहितगुणनिधिगुणगानं,
विरचय शान्तसुधारसपानम् ॥ विनय० ॥ २०१ ॥

अर्थ :- इस प्रकार अन्य के सद्गुणों का अनुमोदन करना यही जिसका सार है, ऐसे मानवभव को प्राप्तकर हे आत्मन् ! तू उसे सदा सफल कर । सदाचार में तल्लीन व सद्गुणों के समुद्र समान ऐसे सत्पुरुषों का गुणगान कर और राग-द्वेषादिक विकारवर्जित निरामय **शान्त सुधारस** का पान कर ॥२०१॥

१५. कारुण्य भावना

प्रथममशनपानप्राप्तिवाञ्छाविहस्ता-
स्तदनु वसनवेश्मालङ्कृतिव्यग्रचित्ताः ।
परिणयनमपत्यावाप्तिमिष्टेन्द्रियार्थान्,
सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाश्नुवीरन् ॥ २०२ ॥ मालिनी

अर्थ :- सर्वप्रथम प्राणी खाने-पीने की लालसा से आकुल-व्याकुल बनते हैं, उसके बाद वे वस्त्र, गृह और अलंकार में व्यग्र चित्त वाले बनते हैं, उसके बाद लग्न, पुत्र-पुत्री की प्राप्ति तथा इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की सतत् अभिलाषा करते रहते हैं, अतः वे बेचारे किस प्रकार स्वस्थता प्राप्त कर सकते हैं ? ॥२०२॥

उपायानां लक्षैः कथमपि समासाद्य विभवं,
भवाभ्यासात्तत्र ध्रुवमिति निबध्नाति हृदयम् ।
अथाकस्मादस्मिन्विकिरति रजः क्रूरहृदयो,
रिपुर्वा रोगो वा भयमुत जरा मृत्युरथवा ॥ २०३ ॥ शिखरिणी

अर्थ :- लाखों उपाय करके महाकष्ट से लक्ष्मी प्राप्त कर **'यह लक्ष्मी सदा रहने वाली है'** ऐसा मानकर गत भवों के

अभ्यास के कारण आत्मा उसमें मोहित बनती है। परन्तु इतने में क्रूर हृदय वाले शत्रु, रोग, भय, जरा अथवा मृत्यु आकर अचानक ही उसमें धूल डाल देते हैं ॥२०३॥

स्पर्द्धन्ते केऽपि केचिद्दधति हृदि मिथो मत्सरं क्रोधदग्धा,
युध्यन्ते केऽप्यरुद्धा धनयुवतिपशुक्षेत्रपद्रादिहेतोः ।
केचिल्लोभाल्लभन्ते विपदमनुपदं दूरदेशानटन्तः,
किं कुर्मः किं वदामो भृशमरतिशतैर्व्याकुलं विश्वमेतत् ॥२०४॥

स्रग्धरावृतम्

अर्थ :- यहाँ कई लोग परस्पर स्पर्द्धा करते हैं कई क्रोध से दग्ध बने एक-दूसरे की ईर्ष्या करते हैं; कई धन, युवती, पशु, क्षेत्र तथा ग्रामादि के लिए निरन्तर लड़ते रहते हैं तथा कई लोभ के वशीभूत होकर दूर देशान्तर में भटकते हुए स्थान-स्थान पर क्लेश पाते हैं। इस प्रकार अनेकविध उद्वेग-संक्लेश से यह सम्पूर्ण विश्व व्याकुल बना हुआ है ॥२०४॥

स्वयं खनन्तः स्वकरेण गर्ता, मध्ये स्वयं तत्र तथा पतन्ति ।
यथा ततो निष्क्रमणं तु दूरे-
ऽधोऽधः प्रपाताद् विरमन्ति नैव ॥ २०५ ॥ **उपजातिवृतम्**

अर्थ :- अपने ही हाथों से गड्ढा खोदकर मोहमूढ़ आत्माएँ उसमें इस प्रकार गिर पड़ती हैं कि उसमें से बाहर निकलना तो दूर रहा, बल्कि अधिकाधिक नीचे गिरती ही जाती हैं ॥२०५॥

प्रकल्पयन् नास्तिकतादिवाद-मेवं प्रमादं परिशीलयन्तः ।
मग्ना निगोदादिषु दोषदग्धा,
दुरन्त-दुःखानि हहा सहन्ते ॥ २०६ ॥ उपजाति

अर्थ :- नास्तिकता आदि कुवादों की कल्पना करके निर्विवेक जीव इस प्रकार के प्रमाद का विशेष आचरण करने वाले स्वदोष से दग्ध बने निगोद आदि दुर्गति में गिरकर निरवधि असंख्यकाल तक दुरन्त दुःखों को सहन करते हैं ॥२०६॥

शृण्वन्ति ये नैव हितोपदेशं, न धर्मलेशं मनसा स्पृशन्ति ।
रुजः कथंकारमथापनेया-स्तेषामुपायस्त्वयमेक एव ॥२०७॥

अर्थ :- जो हितोपदेश को सुनने के लिए तैयार ही नहीं हैं और लेश मात्र भी धर्म को मन में स्थान नहीं देते हैं, उनके दुर्गति आदि भाव-रोगों को कैसे दूर करें ? अतः उन जीवों के प्रति करुणा रखना, यही एक उपाय है ॥२०७॥

परदुःखप्रतिकार-मेवं ध्यायन्ति ये हृदि ।
लभन्ते निर्विकारं ते, सुखमायतिसुन्दरम् ॥ २०८ ॥ अनुष्टुप्

अर्थ :- इस प्रकार जो अन्य के दुःखों को दूर करने का चिन्तन करते हैं, वे सुन्दर परिणाम वाले निर्विकारी सुख को पाते हैं ॥२०८॥

सुजना ! भजत मुदा भगवन्तं, सुजना ! भजत मुदा भगवन्तं ।
शरणागतजनमिह निष्कारण-
करुणावन्तमवन्तं रे ।सुजना०॥ २०९ ॥

अर्थ :- हे सज्जनो ! शरणागत प्राणियों पर निष्कारण अप्रतिम करुणा करने वाले भगवन्त को आप प्रेम से भजो ॥२०९॥

क्षणमुपधाय मनः स्थिरतायां, पिबत जिनागमसारम् ।
कापथघटनाविकृतविचारं,
त्यजतकृतान्तमसारं रे ॥ सुजना० ॥ २१० ॥

अर्थ :- क्षण भर मन को स्थिर करके श्री जिनेश्वरदेव के आगमरूप अमृत का पान करो और उन्मार्ग की रचना से विषम विचार वाले असार और मिथ्याशास्त्रों का त्याग करो ॥२१०॥

परिहरणीयो गुरुरविवेकी, भ्रमयति यो मतिमन्दम् ।
सुगुरुवचः सकृदपि परिपीतं, प्रथयति परमानन्दं रे।सुजना०।२११।

अर्थ :- जो मतिमन्द/मुग्धजनों को संसारचक्र में परिभ्रमण कराते हैं ऐसे अविवेकी गुरु का त्याग करना चाहिए और सद्गुरु का वचनामृत एक बार भी पीया है तो वह परम आनन्द को बढ़ाता है ॥२११॥

कुमततमोभरमीलितनयनं, किमु पृच्छत पन्थानम् ।
दधिबुद्ध्या नर जलमन्थानं,
किमु निदधत मन्थानं रे । सुजना० ॥ २१२॥

अर्थ :- कुमति रूपी अन्धकार से जिसके नेत्र मीलित हो गए हैं, ऐसे कुगुरु से मार्ग क्यों पूछते हो ? जल से परिपूर्ण भाजन में दही की बुद्धि से रवैया क्यों करते हो ? ॥२१२॥

अनिरुद्धं मन एव जनानां, जनयति विविधातङ्कम् ।
सपदि सुखानि तदेव विधत्ते,
आत्मारामममशङ्कं रे । सुजना० ॥ २१३ ॥

अर्थ :- अंकुशरहित मन मिथ्यात्व आदि विविध प्रकार की उपाधियाँ पैदा करता है और वहीं निग्रहित मन निःशंक रूप से सुख भी प्रदान करता है ॥२१३॥

परिहरतास्त्रवविकथागारव- मदनमनादि-वयस्यम् ।
क्रियतां संवर-साप्तपदीनं,
ध्रुवमिदमेव रहस्यं रे । सुजना० ॥ २१४ ॥

अर्थ :- अनादिकाल से सहचारी बने आस्त्रव, विकथा, गारव तथा मदन का त्याग करो और संवर रूप सच्चे मित्र का आदर करो, यही सच्चा रहस्य है ॥२१४॥

सह्यत इह किं भवकान्तारे, गद-निकुरम्ब-मपारम् ।
अनुसरता हितजगदुपकारं, जिनपतिमगदङ्कारं रे ।सुजना०॥ २१५॥

अर्थ :- इस भवाटवी में अपार द्रव्य और भाव रोगों को तुम क्यों सहन करते हो ? समस्त जगत् पर उपकार करने में दृढ़ प्रतिज्ञावन्त जिनेश्वरदेव रूप भाव वैद्य का अनुसरण करो,

जिससे तुम्हारे समस्त द्रव्य और भाव रोग शान्त हो जायें और तुम्हें सुख प्राप्त हो ॥२१५॥

शृणुतैकं विनयोदितवचनं, नियतायतिहित-रचनम् ।
रचयत सुकृत-सुख-शतसन्धानं,
शान्त-सुधारसपानं रे ॥ सुजना० ॥ २१६ ॥

अर्थ :- अन्त में अवश्य हित करने वाले विनय के उपलक्षण से **(विनय विजयजी म. द्वारा)** कहा गया एक वचन तुम सुनो और सैकड़ों प्रकार से सुकृत तथा अनुपम के जोड़ने वाले **शान्त सुधारस** का पान करो ॥२१६॥

१६. माध्यस्थ्य भावना

श्रान्ता यस्मिन् विश्रमं संश्रयन्ते,
रुग्णाः प्रीतिं यत्समासाद्य सद्यः ।
लभ्यं राग-द्वेषविद्वेषिरोधा-
दौदासीन्यं सर्वदा तत् प्रियं नः ॥ २१७ ॥

अर्थ :- जिस उदासीनता को प्राप्तकर श्रमितजन विश्राम प्राप्त करते हैं और रोगीजन प्रीति प्राप्त करते हैं, राग-द्वेष रूपी शत्रु का रोध करने से उसे (उदासीनता को) प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा औदासीन्य हमें सर्वदा प्रिय है ॥२१७॥

लोके लोका भिन्न-भिन्नस्वरूपाः,
भिन्नैर्भिन्नैः कर्मभिर्मर्मभिद्भिः ।
रम्यारम्यैश्चेष्टितैः कस्य कस्य,
तद्विद्वद्भिः स्तूयते रुष्यते वा ॥ २१८ ॥

अर्थ :- मर्मस्थल को भेदने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मों को लेकर इस लोक में प्राणी भिन्न-भिन्न स्वरूप/आकार में दिखाई देते हैं । उनके सुन्दर और असुन्दर आचरणों को

जानने वाले बुद्धिमान् मनुष्य इनमें किनकी प्रशंसा करे और किनके ऊपर रोष करे ? ॥२१८॥

मिथ्या शंसन् वीरतीर्थेश्वरेण,
रोद्धुं शेके न स्वशिष्यो जमालिः ।
अन्यः को वा रोत्स्यते केन पापात्,
तस्मादौदासीन्यमेवात्मनीनम् ॥ २१९ ॥

अर्थ :- स्वयं तीर्थंकर परमात्मा महावीर स्वामी भी अपने शिष्य जमाली को विरुद्ध प्ररूपणा करते हुए रोक नहीं सके, तो फिर कौन किसको पाप से रोक सकता है ? अतः उदासीनता ही आत्महितकर है ॥२१९॥

अर्हन्तोऽपि प्राज्यशक्तिस्पृशः किं, धर्मोद्योगं कारयेयुः प्रसह्य ।
दद्युः शुद्धं किन्तु धर्मोपदेशं, यत्कुर्वाणा दुस्तरं निस्तरन्ति॥२२०॥

अर्थ :- तीर्थंकर परमात्मा असाधारण शक्ति सम्पन्न होते हैं, फिर भी क्या वे बलात्कार से किसी के पास धर्म कराते हैं ? अर्थात् नहीं कराते हैं । किंतु वे शुद्ध धर्म का उपदेश अवश्य देते हैं, जिसका पालनकर भव्य प्राणी भवसागर तैर जाते हैं ॥२२०॥

तस्मादौदासीन्यपीयूषसारं, वारं वारं हन्त सन्तो लिहन्तु ।
आनन्दानामुत्तरङ्गत्तरङ्गै-र्जीवद्भिर्यद् भुज्यते मुक्तिसौख्यम्। ॥२२१॥

अर्थ :- अतः सभी सन्त पुरुष उदासीनता रूपी अमृत का बारम्बार पान करें और आनन्द की उछलती तरंगों के द्वारा प्राणिमुक्ति के सुख को प्राप्त करें ॥२२१॥

॥ १६ भावनाष्टकम् ॥

अनुभव विनय ! सदा सुखमनुभव, औदासीन्यमुदारं रे ।
कुशलसमागममागमसारं,
कामित-फलमन्दारं रे । अनुभव॰ ॥ २२२ ॥

अर्थ :- हे विनय ! तू सदैव उदासीनता रूपी उदार सुख का अनुभव कर । क्योंकि यह आगम-सिद्धान्त के साररूप मोक्ष-पद की प्राप्ति कराने वाला है तथा इष्टफल को देने में कल्पवृक्ष के समान है ॥२२२॥

परिहर परचिन्तापरिवारं, चिन्तय निजमविकारं रे ।
वदति कोऽपि चिनोति करीरं,
चिनुतेऽन्यः सहकारं रे । अनुभव॰ ॥ २२३ ॥

अर्थ :- पर-पुद्गल की चिन्ता का तू त्याग कर दे और आत्मा के अविकारी आत्मस्वरूप का तू चिन्तन कर । कोई मुख से बड़ी-बड़ी बातें ही करते हैं, किन्तु वे केरड़ा ही पाते हैं, जबकि परिश्रम करने वाले आम्र की प्राप्ति करते हैं ॥२२३॥

योपि न सहते हितमुपदेशं, तदुपरि मा कुरु कोपं रे ।
निष्फलया किं परजनतप्त्या,
कुरुषे निजसुखलोपं रे । अनुभव॰ ॥ २२४ ॥

अर्थ :- जो तुम्हारे हितकारी उपदेश को सहन नहीं करते हैं, उन पर तू क्रोध मत कर । व्यर्थ किसी पर क्रोध करके तू अपने स्वाभाविक सुख का लोप क्यों करता है ? ॥२२४॥

सूत्रमपास्य जड़ा भासन्ते, केचन मतमुत्सूत्रं रे ।
किं कुर्मस्ते परिहृतपयसो, यदि पीयन्ते मूत्रं रे ।अनुभव०॥ २२५॥

अर्थ :- कई जड़ बुद्धि वाले शास्त्र-वचन का त्यागकर मिथ्या (शास्त्रविरुद्ध) भाषण करते हैं, वे मूढ़ जीव निर्मल जल का त्यागकर मूत्र का पान करते हैं, तो इसमें हम क्या करें ? ॥२२५॥

पश्यसि किं न मनःपरिणामं, निजनिजगत्यनुसारं रे ।
येन जनेन यथा भवितव्यं, तद्भवता दुर्वारं रे ।अनुभव०॥२२६॥

अर्थ :- अपनी-अपनी गति के अनुसार जीवों के (शुभाशुभ) परिणाम होते हैं, अतः हे आत्मन् ! तू क्यों नहीं समझता है ? जिस आत्मा की जो गति होनेवाली है, उसे तू कैसे रोक सकेगा ? उसे तू नहीं मिटा सकता है ॥२२६॥

रमय हृदा हृदयंगमसमतां, संवृणु मायाजालं रे ।
वृथा वहसि पुद्गल-परवशता-
मायुः परिमितकालं रे । अनुभव० ॥ २२७ ॥

अर्थ :- अपने दिल में आनन्ददायी समता को स्थिर कर और मायाजाल का त्याग कर दे, तू व्यर्थ ही पुद्गल की पराधीनता भोग रहा है, तेरा आयुष्य तो मर्यादित है ॥२२७॥

अनुपमतीर्थमिदं स्मर चेतन-मन्तः स्थितमभिरामं रे ।
चिरं जीव विशदपरिणामं,
लभसे सुखमविरामं रे । अनुभव० ॥ २२८ ॥

अर्थ :- तेरे अन्दर स्थित आत्मा ही सुन्दर व अनुपम तीर्थ है, उसे तू याद कर और चिरकाल पर्यन्त निर्मल परिणामों को धारणकर जिससे तुझे अक्षय सुख की प्राप्ति होगी ॥२२८॥

परब्रह्मपरिणाम-निदानं, स्फुटकेवलविज्ञानम् रे ।
विरचय विनयविवेचितज्ञानं,
शान्त सुधारसपानं रे । अनुभव० ॥ २२९ ॥

अर्थ :- परब्रह्म-परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के निदान रूप तथा निर्मल केवलज्ञान प्रदान करने वाले विनय (**पू. उपा. श्री विनय विजयजी म.**) द्वारा विवेचित '**शान्त सुधारस**' का हे भद्र ! तू पान कर ॥२२९॥

उपसंहार प्रशस्ति - श्लोको

(स्त्रग्धरा छन्दः)

एवं सद्भावनाभिः सुरभितहृदयाः संशयातीतगीतो-
न्नीतस्फीतात्मतत्त्वास्त्वरितमपसरन्मोहनिद्राममत्वाः ।
गत्वा सत्त्वाममत्वातिशयमनुपमां चक्रिशक्राधिकानां
सौख्यनां मङ्क्षुलक्ष्मीम्, परिचितविनयाः स्फारकीर्ति श्रयन्ते ।१।

अर्थ :- इस तरह सद्भावनाओ से सुवासित हृदयवाला आत्मा संशयातीत बनकर आत्मतत्त्व के चिंतन से मोह-निद्रा ममत्व को तुरंत दूर करता है ।

सत्वशील बनकर निर्ममत्वभाव को धारण करता है ।

अनुपम ऐवम शत चक्रवर्तीओ के सुख से भी अधिक सुख भावनाभावित मन को होता है । इस सुख से चारो और अपना यश फैलाता है । और अंत में मोक्षगति को प्राप्त करता है ।।१।।

(स्त्रग्धरा छन्दः)

दुर्ध्यानप्रेतपीडा प्रभवति न मनाक्क्वाचिदद्वन्द्वसौख्यस्फातिः
प्रीणाति चित्तं प्रसरति परितः सौख्यसौहित्यासिन्धुः ।
क्षीयन्ते रागरोषप्रभृतिरिपुभटाः, सिद्धिसामज्यलक्ष्मीः
स्याद्वश्या यन्महिम्ना विनयशुचिधियो भावनास्ता श्रयध्वम् ।२।

अर्थ :- जिस भावना के प्रभाव से दुर्ध्यान की पीडा से मुक्त हो जाते हो । इसके प्रभाव से अनिर्वचनीय सुख की वृद्धि होती है, और चित्त को प्रसन्न करता है । सब दिशा में तृप्ति का सागर लहराता है । और इसके प्रभाव से राग, द्वेष नष्ट हो जाते है और आत्मऋद्धि सहज ही प्राप्त होती है ।

विनय से नीर्मल बुद्धियुक्त बनकर इस भावनाओं का स्मरण करे । ॥२॥

(पथ्या छन्दः)

श्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यौ सोदरावभूतां द्वौ ।
श्रीसोमविजयवाचक वाचकवरकीर्तिविजयाख्यौ ॥ ३ ॥

अर्थ :- श्री हीरविजयसूरीजीके दो शिष्य जो सगे भाइ थे श्री सोमविजयजी वाचक और वाचकवार कीर्तिविजयजी ॥३॥

(गीति छन्दः)

तत्र च कीर्तिविजयवाचकशिष्योपाध्यायविनयविजयेन ।
शान्तसुधारसनामा संदृष्टो भावनाप्रबन्धोऽयम् ॥ ४ ॥

अर्थ :- इसमे से कीर्तिविजयजी वाचक के शिष्य उपाध्याय विनयविजयजी के " शांत सुधारस" नामके भावना प्रबोध ग्रंथ की रचना की है ॥४॥

(गीति छन्दः)

शिखिनयनसिन्धुशशिमितवर्षे हर्षेण गन्धपुरनगरे ।
श्रीविजयप्रभसूरिप्रसादतो यत्न एष सफलोऽभूत् ॥ ५ ॥

अर्थ :- विक्रम संवत १७२३ में गंधपुर (गंधार) नगर में हर्ष और उल्लासित हृदय से कीया प्रयत्न जैनाचार्य श्री विजयप्रभसूरीश्वर के आशीर्वाद से सफल हुआ ॥५॥

(उपजाति छन्दः)

यथा विधु षोऽशभिः कलाभिः सम्पूर्णतामेत्य जगत्पुनीते ।
ग्रन्थस्तथा षोऽशभिः प्रकाशैरयं समग्रैः शिवमातनोतु ॥ ६॥

अर्थ :- जिस तरह चन्द्र अपनी सोलह कला से बीखर-कर सृष्टि को आनंदित करता है, उसी तरह सोलह भावनाओ मे बटा हुआ यह ग्रंथ सबका कल्याण करनारा बने ॥६॥

(इन्द्रवज्रा छन्दः)

यावज्जगत्येष सहस्त्रभानुः पीयूषभानुश्च सदोदयेते ।
तावत्सतामेतदपि प्रमोदम्, ज्योतिः स्फुरद्वङ्मयमातनोतु ।७।

अर्थ :- जब तक सूर्य और चन्द्र उदय होते है, तब तक सज्जनो को यह "शांत सुधारस" ग्रंथ मन को प्रसन्न करता रहेगा, अेवम चित्त को शांत करने का मार्ग दिखाता रहेंगा ॥७॥

अहो ! श्रुतम् स्वाध्याय संग्रह में प्रकाशित होनेवाले हिन्दी ग्रंथो का विवरण

(१) जीवविचार - नवतत्त्व

(२) दंडक - लघु संग्रहणी

(३) भाष्यत्रयम् - चैत्यवंदन / गुरुवंदन / पच्चखाण भाष्य

(४) कर्मग्रंथ १-२-३

(५) ज्ञानसार

(६) उपदेशमाला

(७) अध्यात्मसार

(८) शांतसुधारस

(९) प्रशमरति

(१०) वैराग्यशतक - इन्द्रिय पराजय शतक

(११) अध्यात्म कल्पद्रुम

(१२) अष्टक प्रकरण

(१३) तत्त्वार्थसूत्र

(१४) वीतरागस्तोत्र

(१५) बृहद् संग्रहणी

(१६) लघु क्षेत्र समास - बृहद क्षेत्र समास

● ● ●

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार परिचय

(1) शा. सरेमल जवेरचंदजी बेडावाला परिवार द्वारा स्वद्रव्य से संवत् 2063 में निर्मित...

(2) गुरुभगवंतो के अभ्यास के लिये 2500 प्रताकार ग्रंथ व 21000 से ज्यादा पुस्तको के संग्रह मे से 33000 से ज्यादा पुस्तके इस्यु की है...

(3) श्रुतरक्षा के लिये 45 हस्तप्रत भंडारो को डिजिटाईजेशन के द्वारा सुरक्षित किया है और उस में संग्रहित 80000 हस्तप्रतो में से 1800 से ज्यादा हस्तप्रतो की झेरोक्ष विद्वान गुरुभगवंतो को संशोधन संपादन के लिये भेजी है...

(4) जीर्ण और प्रायः अप्राप्य 222 मुद्रित ग्रंथो को डिजिटाईजेशन करके मर्यादित नकले पुनः प्रकाशित करके ज्ञानभंडारो को समृद्ध बनाया है...

(5) अहो ! श्रुतज्ञानम् चातुर्मासिक पत्रिका के 46 अंक श्रुतभक्ति के लिये स्वद्रव्य से प्रकाशित किये है...

(6) ई-लायब्रेरी के अंतर्गत 9000 से ज्यादा पुस्तको का डिजिटल संग्रह PDF उपलब्ध है, जिस में से गुरुभगवंतो की जरुरियात के मुताबिक मुद्रित प्रिन्ट नकल भेजते है...

(7) हर साल पूज्य साध्वीजी म.सा. के लिये प्राचीन लिपि (लिप्यंतरण) शीखने का आयोजन...

(8) बच्चों के लिये अंग्रेजी में सचित्र कथाओं को प्रकाशित करने का आयोजन...

(9) अहो ! श्रुतम् ई परिपत्र के द्वारा अद्यावधि अप्रकाशित आठ कृतिओं को प्रकाशित की है...

(10) नेशनल बुक फेर में जैन साहित्य की विशिष्ट प्रस्तुति एवं प्रसार ।

(11) पंचम समिति के विवेकपूर्ण पालन के लिये उचित ज्ञान का प्रसार एवं प्रायोगिक उपाय का आयोजन ।

(12) चतुर्विध संघ उपयोगी प्रियम् के 60 पुस्तको का डिजिटल प्रिन्ट द्वारा प्रकाशन ।

• • •

श्री पंच महामंगल श्रुतस्कन्ध

श्री नमस्कार महामंत्र (अतिप्राचिन)